

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182853

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—43—30+1-71—5,000

— — — — — **LIBRARY**

Call No.

H. 808

Accession No.

H. 2405

Author

R168

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

विद्याभवन गृह-भारती-२

साहित्य-शास्त्र

[पूर्व और पश्चिम के आलोचना-सिद्धान्तों की संधि में
हिन्दी साहित्य की मूल प्रकृति पर मौलिक विवेचना]

लेखक

डा० रामकुमार वर्मा

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रयाग विश्वविद्यालय

संपादक

न्यायाधीश श्री चन्द्रभान अग्रवाल



भारतीय विद्याभवन

२५-ए, कानपुर रोड

इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित

मार्च, १९५६

प्रथम संस्करण : ३०००

मूल्य ४)

मुद्रक

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

समर्पण
साहित्य-देवता के
चरणों में

विषय-सूची

दृष्टिकोण	१
प्रथम प्रकरण—साहित्य	६
विषय-प्रवेश, मानवता के विकास में मनोभावों की स्थिति, मनोविज्ञान का विकास, मनोविज्ञान के माध्यम—शब्द और अर्थ, साहित्य की सृष्टि, साहित्य का अर्थ, साहित्य की दृष्टि, ललित दृष्टि, उपयोगी दृष्टि ।	
द्वितीय प्रकरण—साहित्य और जीवन	२२
स्थूल और सूक्ष्म, साहित्य और स्थायित्व, साहित्य में न्याय-भावना का विकास, साहित्य और नवचेतना—आनंद एवं पौरुष ।	
तृतीय प्रकरण—साहित्य और राष्ट्र	३७
राष्ट्रीय साहित्य, अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य, समाज, व्यक्ति, साहित्य और नीति ।	
चतुर्थ प्रकरण—साहित्य और विज्ञान	४६
पंचम प्रकरण—साहित्य की प्रेरणा और सृजन	५०
यथार्थ, समस्या, आदर्श, साहित्य का सृजन, बौद्धिक प्रेरणा, भावात्मक प्रेरणा, भावना की दो कोटियाँ, कल्पना, कल्पना की चार कोटियाँ, तुलनात्मक प्रेरणा, तुलनात्मक प्रेरणा की चार कोटियाँ ।	
षष्ठ प्रकरण—साहित्य में रस और मनोविज्ञान की स्थिति	८८
रस, मनोविज्ञान ।	
सप्तम प्रकरण—अलिखित साहित्य	१०१
दृष्टिकोण, जातीय संस्कृति और परम्पराएँ, प्रकृति-सौन्दर्य, जीवन के सरल संस्कार, राष्ट्र का तरल साहित्य, गीतात्मकता, रचयिता का आत्म-गोपन, अज्ञात रचना-तिथि, अलौकिक प्रभाव, मानव और अमानव का सम्बन्ध, भाषा, लोक-साहित्य का महत्त्व ।	

अष्टम प्रकरण—साहित्य का प्रयोजन और इष्ट ११०

आत्मा की अभिव्यक्ति, विविध दृष्टियाँ, पाश्चात्य दृष्टिकोण,
समन्वयात्मक दृष्टि ।

नवम प्रकरण—साहित्य की शैली ११६

भाषा, शब्द-शक्तियाँ, प्रतीक और अलंकार, छन्द, गद्य की शैलियाँ ।

दशम प्रकरण—साहित्य के विस्तार की दृष्टि १२९

सम्यता और संस्कृति, चिरंतन सत्य का प्रतिपादन, रुचि-वैचित्र्य,
युग-प्रभाव ।

दृष्टिकोण

[यह समालोचना का युग है। साहित्य और कला ही नहीं, ज्ञान और विज्ञान की विविध शाखाएँ और प्रशाखाएँ भी, जीवन के बदलते हुए दृष्टिकोणों की कसौटियों पर कसी जा रही हैं और उनका मूल्य आँका जा रहा है। जीवन के मूल्यांकनों में—माप-दंडों में परिवर्तन हुआ है। रुचि में भेद तो रहा ही है, पर यह भेद अब संघर्ष की सीमा तक पहुँच रहा है। आदर्श और यथार्थ दो विरोधी पड़ोसियों की तरह एक दूसरे का रास्ता रोके खड़े हैं, लौकिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण एक दूसरे का परिहास कर रहे हैं और कलावाद और उपयोगितावाद एक दूसरे के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगा चुके हैं। साहित्य के संप्रदायों में मानवता के भी संप्रदाय बन गए हैं और जीवन असहाय भिखारी की भाँतिवादों और सिद्धान्तों के द्वार पर खड़ा होकर सत्य की भिक्षा माँगता है; वह भिक्षा उसे कुछ ही द्वारों पर तिरस्कार के साथ मिलती है।] जिस प्रकार रंगमंच पर किसी सुन्दरी का अभिनय करने के लिए आज भी एक लड़का मुँह पर पाउडर और सुर्खी लगाकर साड़ी पहन लेता है, उसी प्रकार सिद्धान्तों के टेढ़े-मेढ़े दृष्टिकोण भी शब्दों या रंगों का आवरण लेकर 'कला' का अभिनय कर रहे हैं। इस प्रकार साहित्य एक ऐसा मीनाबाजार बन गया है जहाँ प्रत्येक दूकानदार अपनी चीज की प्रशंसा ऊँचे से ऊँचे या आकर्षक से आकर्षक शब्दों में करता है और जिसकी आवाज़ सबसे ऊँची या सबसे मीठी होती है, उसी का प्रचार होने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य का मूल्यांकन उसके रूप पर न हो, वरन् उस सत्य पर हो, जिसका वह प्रतिनिधित्व करता या कर सकता है। प्रश्न यह है कि यह मूल्यांकन किस प्रकार हो ?

साहित्य के मूल्यांकन में प्रायः एक भूल हो जाया करती है। वह यह कि यह मूल्यांकन सिद्धान्तों और नियमों का आश्रय लेने लगता है। सिद्धान्त और नियम तर्क पर आधारित हैं, किन्तु समूचा साहित्य तो तर्क पर आधारित नहीं है। साहित्य मानव की संवेदनाओं का कलात्मक रूप में अभिव्यक्तीकरण है। उसमें भावनाओं और कल्पनाओं की असीम पृष्ठभूमि है। उसमें निर्झरिणी की भाँति प्रगतिशीलता है और हृदय को शान्ति देनेवाली निर्मलता और पवित्रता। उसमें आह्लाद और आनन्द है। जिस प्रकार एक नदी अपने प्रवाह के अनुकूल तटों का निर्माण कर लेती

है, उसी प्रकार साहित्य की संवेदना अपने अभिव्यक्तीकरण में सिद्धान्तों का निर्माण कर लेती है। अतः यह स्पष्ट है कि सिद्धान्त और नियम साहित्य का निर्माण नहीं करते, वरन् साहित्य अपने जीवन की अनुभूतियों में सिद्धान्तों का निर्माण करता है। जीवन की संवेदना प्रमुख है, सिद्धान्त गौण है।

साहित्य के मूल्यांकन में यही भूल है कि सिद्धान्त प्रमुख हो जाता है और जीवन की संवेदना गौण बन जाती है। साहित्य की प्रकृति तो परिस्थितियों और उनके प्रभावों के कारण शीघ्र ही बदल जाती है, किन्तु सिद्धान्त शीघ्र ही नहीं बदले जा सकते। वे आदेश का रूप ग्रहण कर साहित्य के वायुमंडल में गूँजते रहते हैं, या ठोस दीवाल बनकर साहित्य के परिवर्तित प्रवाह को रोकने का कार्य करते हैं। साहित्य की विकासोन्मुखी प्रकृति को सिद्धान्तों की स्थिरता कैसे आँक सकेगी? महाकवि बिहारी की नायिका के अंग पल-पल में परिवर्तित हो रहे हैं। चित्रकार जब एक बार एक अंग का चित्रण समाप्त कर दूसरे अंग का रूप खींचना चाहता है तब तक पहला अंग बदल जाता है। इस भाँति उस नायिका का संपूर्ण चित्र उतर ही नहीं सकता। यही परिस्थिति साहित्य की विकासोन्मुखी प्रवृत्ति और जड़ सिद्धान्त की है। चित्रकार की भाँति सिद्धान्त भी साहित्य-श्री का वास्तविक मूल्यांकन करने में समर्थ नहीं हो पाता। अनेक बार प्रयास करने पर भी साहित्य का मूल्यांकन सही नहीं हो पाता।

आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य की समीक्षा करने के लिए जो भी नियम या सिद्धान्त बनाये जावें, वे इतने व्यापक और लचीले हों कि साहित्य की विकासोन्मुखी प्रकृति के अनुरूप वे स्थानान्तरित होती हुई दृष्टि को अपने में समाहित कर सकें। समालोचना के सिद्धान्त वसन्तकालीन उस प्राकृतिक वैभव के अनुरूप हों, जिसमें प्रत्येक प्रकार के पुष्प का विकास हो सके; अथवा सूर्य का ऐसा आलोक हो, जिसमें प्रत्येक प्रकार के रंग की अन्तर्व्याप्ति संभव हो। उदाहरण के लिए संस्कृत साहित्य का रस-सिद्धान्त ही लीजिए, जिसके आधार पर काव्य की परिभाषा बनाई गई है। यह 'रस' अंतर्जगत् की आनन्दानुभूति है, जो पार्थिवता से अंकुरित होकर ब्रह्मानन्द में फलीभूत होती है। संसार चाहे कितना ही परिवर्तित क्यों न हो जावे, मनुष्य की रचि चाहे जितने प्रकार से वस्तु में रमण करे और जीवन का दृष्टिकोण चाहे जो हो, 'रस' की अनुभूति सब प्रकार की विविधता को अपने में समेट सकेगी क्योंकि वह 'सीकर' से 'त्रैलोक्य' सृष्टि में प्रगतिशील है। इसलिए 'रस' से संबंध रखनेवाली काव्य की जो परिभाषा है, वह कभी पुरानी नहीं होगी और काव्य के समस्त दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती रहेगी। मैं

समझता हूँ कि काव्य की इस परिभाषा की दृष्टि से रस संस्कृत साहित्य का विश्व-साहित्य को सबसे बड़ा वरदान है।

इस भाँति साहित्य की समीक्षा करने के लिए समालोचना के सिद्धान्तों को अधिक से अधिक व्यापक होने की आवश्यकता है। यदि वे संकीर्ण या जड़ रहे, तो जीवन्त साहित्य का मूल्यांकन उनके द्वारा कभी संभव न हो सकेगा।

यह सर्वमान्य है कि साहित्य राष्ट्र की तपस्या है, वह जीवन के अनन्त प्रयोगों की सिद्धि है और समस्त संवेदनाओं का सार-रूप है। वह केवल 'आज' का मनो-रंजन नहीं है, वरन् 'कल' का संबल भी है। अतः उसमें जीवन का ऐसा परिष्करण या ऊर्जस्वीकरण है, जिससे मनुष्य को भविष्य में बल मिल सके।

दूसरी ओर यह भी माना जा सकता है कि वह मानवता का इतिहास है। मनुष्य ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं, उसने विविध प्रकार से जीवन का उपभोग किया है, उसने अनेक भूलों भी की हैं, उन सबको साहित्य ने संचित कर रखा है। अतीत का साहित्य इन सबका विस्तृत लेखा है। समय ने अनेक युग देखे और साहित्य ने उनका साथ दिया। यदि युग ने जीवन के लिए संकट उत्पन्न किए, तो साहित्य ने या तो संकट से बचने के प्रयत्नों में वीरता का बाना धारण किया, या ईश्वर की शरण चाही; यदि युग ने जीवन को विलासिता की गोद में सुलाना चाहा तो साहित्य ने शृंगार के रंगमंच पर नायक और नायिका के आलंबन से समस्त जीवन को ही मुस्कान की रेखाओं में खींच दिया, और प्रेम की ऋतु में सौन्दर्य का सम्मोहन प्रस्तुत किया। यदि युग ने जीवन में विवेक दिया, तो साहित्य ने ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाएँ और प्रशाखाएँ पल्लवित कीं। इस प्रकार साहित्य समय के समानान्तर चला है, चाहे उसने अनेक क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ लक्षित की हों। वह चाहे अनुकूल रहा हो, चाहे प्रतिकूल, किन्तु समय के—युग के संकेत उसमें सदैव मिलते रहे हैं।

ऐसा यह साहित्य है। उसमें जीवन की उच्चतम अनुभूतियाँ हैं और उसमें युग की बदलनेवाली—समय का साथ देनेवाली मनोवृत्तियाँ भी हैं। प्रथम का संबंध आदर्शवाद से है, द्वितीय का संबंध यथार्थवाद से। कवियों और लेखकों की प्रतिभा ने इनका प्रयोग अपने युग से ऊपर उठकर या युग के रंग में रँगकर इच्छानुसार किया है। आदर्श और यथार्थ ने जीवन से निकलकर उसकी दृष्टियाँ भी निर्धारित की हैं। कभी आदर्श की दृष्टि समादृत हुई है, कभी यथार्थ की। और कभी आदर्श निन्दित हुआ है, कभी यथार्थ। वस्तुवादी प्रभाव ने आदर्श को कभी पनपने नहीं दिया। वह भी कोई साहित्य है जो यथार्थ जीवन से आँखें बन्द कर किसी काल्प-

निक स्वर्ग में निवास करना चाहता है ? उषा की स्वर्ण रेखाओं से वस्त्र नहीं बन सकता, और इन्द्रधनुष वर्तुलाकार होकर भी रोटी का रूप ग्रहण नहीं कर सकता । हम अपनी दैनिक आवश्यकताओं, जीवन की आकांक्षाओं और संघर्षों की तीव्र साँसों के बीच में तारों वाले गजरे नहीं पहन सकते । ऐसा आदर्शवाद साहित्य की किसी प्रदर्शनी में रंगीन प्रकाश-शलाकाओं के बीच सुसज्जित कर दीजिए ।

और यथार्थ की बात भी तो यही है ! वह साहित्य भी कोई साहित्य है, जो शरीर की आवश्यकताओं का मापदण्ड बनकर रह जाय ? हमारा जीवन क्या केवल भूख और प्यास ही में सिमटा हुआ है ? वह भूख और प्यास जो शरीर का प्रत्येक क्षण उठनेवाला रोग है ? इसी रोग को लेकर क्या शताब्दियों तक जीनेवाली मानवता को त्याग और उत्सर्ग की प्रेरणा देनेवाला साहित्य लिखा जा सकेगा ? यह यथार्थ जो मानवता के निर्बल क्षणों की कहानी है, यह यथार्थ जो परिस्थितियों का खिलौना है, यह यथार्थ जिसका क्रम बुलबुले की भाँति फूटकर विस्मृति के गर्त में विलीन हो जाना है ? टेढ़े-मेढ़े स्याही के धब्बों से कभी चित्र बना है ? पहाड़ की शिलाओं की नुकीली कोरों में क्या प्रतिमा का निर्माण संभव है ? मानव की शताब्दियों तक जीवित रहनेवाली सौन्दर्य-दृष्टि कहाँ तक यथार्थ की जटिल गुत्थियों में उलझी रहेगी ? भूख-प्यास की समस्या के लिए अर्थशास्त्र है—साहित्यशास्त्र नहीं । यथार्थ के दानव को मानवता के मन्दिर में देवता की भाँति कैसे पूजा जा सकता है ? साहित्य यथार्थवाद से निकलनेवाली प्रेरणाएँ ग्रहण कर लेगा और उन्हें नई दिशाएँ प्रदान करेगा, उन्हें नई शोभा से मंडित करेगा ; वह जनमेजय की भाँति यथार्थ का सर्प-यज्ञ नहीं करेगा, वरन् शंकर की भाँति मस्तक पर धारण करेगा और पीयूषवर्षी चन्द्र के साथ उसका समझौता करा देगा ।

संस्कृत साहित्य ने यही किया है । उसने जीवन के यथार्थ को जीवन के आदर्श से मिला दिया है । अंग्रेजी साहित्य ने जीवन के आदर्श का अनुवाद वस्तु-वादी दृष्टिकोण लेकर यथार्थ में कर दिया है । और हिन्दी साहित्य ने क्या किया है ? आज जब हिन्दी साहित्य की समीक्षा की जाती है, तो कभी हमारी दृष्टि संस्कृत के आचार्यों की ओर जाती है, कभी पश्चिम के समीक्षकों की ओर । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनेक नाटक हम किस कसौटी पर परखें ? उनका 'नीलदेवी' नाटक दुःखान्त है, भारत-दुर्दशा नाटक शोकान्त है । क्या संस्कृत-नाट्यशास्त्र दुःखान्त नाटकों को मौन्यता प्रदान करेगा ? अंग्रेजी-नाट्यशास्त्र मनोविज्ञान के यथार्थवादी दृष्टिकोण की प्रमुखता प्रदान करता है, फिर भारतेन्दु के नाटकों की रसात्मकता के लिए कौन-सा पथ है ? 'चन्द्रावली' नाटिका में वियोग शृंगार के समस्त संचारियों के संचरण

के लिए जो दो-तीन पृष्ठों के स्वगत-कथन हैं, वे तो स्वाभाविकता को चुनौती देते हैं। श्रीनिवासदास का 'रणधीर-प्रेममोहिनी' नाटक भी दुःखान्त है। प्रेमचन्द की कहानी हमारी कथा और आख्यायिका के लक्षणों के अनुरूप नहीं है। अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रियप्रवास' एक ओर तो श्रीकृष्ण के लोकनायकत्व की युग-धारा से प्रभावित है, और दूसरी ओर नवम सर्ग में व्यर्थ के प्रकृति-चित्रण से भरपूर है। श्री मैथिली-शरण गुप्त का 'साकेत' महाकाव्य नायिका-प्रधान है, उसका इतिवृत्त भी क्रमबद्धता के विपरीत है। दशम सर्ग में उर्मिलाके स्वगत-कथन में महाराज दशरथ के चारों पुत्रों के विवाह तक की कथा है, विरह-वर्णन भी रीति-परिपाटी में बुरी तरह कसा हुआ है। प्रसाद की 'कामायनी' भी नायिका-प्रधान है और नायक जो 'सद्वंशः क्षत्रियोवापि धीरोदात्त गुणान्वितः' होना चाहिए, वह भौतिक एषणा से परिचालित होकर बुरी तरह पराजित होता है। अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य संस्कृत महाकाव्यों के किन लक्षणों के अनुसार देखे जायें ? वे पश्चिम के महाकाव्यों के नियमों से अनुशासित समझे जायें, या संस्कृत परंपरा के परिष्कृत और संशोधित रूप में माने जायें ? श्री जयशंकर प्रसाद के नाटकों में रस-परिपाक, नायक की श्रेष्ठता और विदूषक तो मौजूद है, लेकिन नाटक का अन्त किस नियम के अन्तर्गत है ? 'अजातशत्रु' 'प्रसादान्त' कहा जाता है। (यह 'प्रसादान्त' किस शास्त्र का आविष्कार है ?) 'स्कन्दगुप्त' उत्सर्गान्त है, 'ध्रुवस्वामिनी' प्रयोगान्त है और 'चन्द्रगुप्त' फलागमान्त है। ये प्रसादान्त, उत्सर्गान्त, प्रयोगान्त और फलागमान्त नाम क्या वस्तु-विधेयक दृष्टि से निर्धारित नहीं किए गए ? सुखान्त और दुःखान्त की सीमित परिधियों में ये नाटक किस प्रकार अँट सकेंगे ? फिर संस्कृत के दस रूपकों और अट्ठारह उपरूपकों की स्थिति हिन्दी में क्या है ? निबन्ध और समालोचना की कितनी नवीन कोटियाँ निकल आई हैं ? इनका लेखा संस्कृत साहित्य में तो नहीं है। और संस्कृत का चंपू कहाँ गया ? यों 'यशोधरा' को किसी तरह उस संज्ञा के अन्तर्गत हम भले ही ला दें। और हिन्दी का यह एकांकी रंगमंच की किस भ्रू-भंगिमा का रूप है ? जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-विवरण, संस्मरण, गद्यगीत आदि साहित्य के ये अंकुर किस सृजन-स्फूर्ति से सचेतन हो उठे हैं ? यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य की दिशा न तो संस्कृत साहित्य है, और न अंग्रेजी साहित्य। हम संस्कृत साहित्य के रीति-ग्रन्थों के आधार पर अपने महाकाव्यों, खंडकाव्यों, आख्यायिकाओं और नाटकों की वास्तविक दृष्टि नहीं परख सकते। हम अंग्रेजी साहित्य के समालोचना संबंधी ग्रन्थों से भी हिन्दी साहित्य की समीक्षा नहीं कर सकते। फिर हिन्दी साहित्य की

सृष्टि किस तुला पर तौली जाय ? अभी तक हिन्दी की प्रकृति ने जो साहित्य का सृजन किया है, उसकी उत्कृष्टता या निकृष्टता किस आधार पर आँकी जाय और भविष्य के लेखक किस संकेत को सामने रखकर साहित्य-सृजन की पुनीत साधना में प्रवृत्त हों ।

यह स्पष्ट है कि हिन्दी के संस्कार तो संस्कृत साहित्य से आए हैं और प्रभाव पश्चिमी साहित्य से । संस्कार और प्रभाव का सम्मिलित परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी ने अपनी नवीन उद्भावनाओं और स्फूर्तियों को एक स्वतंत्र रूप दे दिया है । इसके लिए एक नये समालोचना-शास्त्र की आवश्यकता है । इस समालोचना-शास्त्र में संस्कृत के रीतिग्रन्थों की वे सब विभूतियाँ आनी चाहिए, जो हिन्दी ने संस्कार रूप से ग्रहण की हैं और पश्चिम के मनोविज्ञान-शास्त्र के वे सब सिद्धान्त आने चाहिए, जिनके प्रभाव से हिन्दी साहित्य ने जीवन की विविधता में प्रवेश किया है । इस समालोचना-शास्त्र के नियम और संकेत इतने व्यापक और लचीले हों कि वे साहित्य की विकासोन्मुखी प्रवृत्ति के प्रयोगों को अपने में उसी प्रकार लीन किए रहें, जैसे किसी बीज में पल्लव, पुष्पों और फलों की समस्त संभावनाएँ प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहती हैं । जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि समालोचना के संकेत इतने स्थिर और जड़ न हों कि वे साहित्य के विकासोन्मुखी प्रवाह को रोक दें । समालोचना के सिद्धान्तों को अधिक से अधिक व्यापक होने की आवश्यकता है । यदि वे संकीर्ण रहे, तो जीवन-साहित्य का मूल्यांकन उनके द्वारा कभी संभव न हो सकेगा । ऐसे व्यापक समालोचना-शास्त्र का प्रणयन आज के युग की सबसे बड़ी माँग है ।

पिछले बीस वर्षों से मुझे प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एम. ए. के विद्यार्थियों को समालोचना के सिद्धान्तों को पढ़ाने का अवसर मिला है । अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण के कारण मैंने अनेक बार कठिनाइयों का अनुभव किया । समालोचना के सिद्धान्त उपस्थित किए जा रहे हैं, संस्कृत या अंग्रेजी में लिखे गए समालोचना-शास्त्रों से और वे घटित किये जा रहे हैं, हिन्दी साहित्य पर । मुझे लगा, जैसे हिन्दी को एक साथ उत्तरीय और हैट पहनाया जा रहा है; या माथे पर केसर की पत्रावली के ऊपर पाउडर मला जा रहा है । हिन्दी समालोचना के सिद्धान्तों का निर्धारण किसी संस्था के तत्वावधान में होता, तो ठीक था । हिन्दी साहित्य के विविध रूपों के विशेषज्ञों की समिति इस कार्य को सरलता के साथ कर सकती थी । लेकिन इस संबंध में अनेक प्रयत्न करने पर भी ऐसा नहीं हो सका ।

मैंने अपनी कठिनाई अपने विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा के सामने रखी । उन्होंने मुझे ही इस कार्य में आगे बढ़ने का आदेश दिया । इस कार्य में

अपने को मैं असमर्थ पाता रहा हूँ, किन्तु पिछले बीस वर्षों के अध्ययन और विद्यार्थियों को पढ़ाने के अनुभव ने मुझे आशा और विश्वास का बल और संबल दिया है सबसे आगे तो अपने गुरु का आदेश है ही। इस ग्रंथ की पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरे प्रिय शिष्य श्री सुरेशचन्द्र अग्निहोत्री, एम० ए०, तथा श्री रामपाल उपाध्याय बी० ए० से विशेष सहायता मिली है। उन्हें धन्यवाद देकर उनकी सेवा का मूल्य आँकना उचित नहीं है। इस ग्रंथ में केवल साहित्य के सामान्य रूप का मौलिक दृष्टि से विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है। साहित्य के अंतर्गत काव्य नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी पर दूसरे भाग में विचार किया जायगा। उसकी पृष्ठभूमि इस भाग में अवश्य ही देखी जा सकती है।

अपनी सीमित शक्तियों को देखते हुए मैं महात्मा तुलसी के इस दोहे में विश्वास रखता हूँ :

अति अपार जे सरितवर, जो नृप सेतु कराहि ।

चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, बिनु श्रम पारहि जाहि ॥

साकेत, इलाहाबाद
दीपावली १९५५

प्रथम प्रकरण

साहित्य

विश्वात्मा की सृष्टि आनन्ददायिनी है। इसकी विविधता में भी एकसूत्रता है।^१ छोटे-बड़े मोतियों की माला के भीतर धागे की भाँति समस्त छोटे-बड़े प्राणियों में चेतना का सूत्र अन्तर्व्यापी है। विश्वात्मा सत्, विषय-प्रवेश चित्, आनन्द है। मानव इस सत्य से परिचित है।^२ जीवन के संघर्षों में वह इस सत्य को भले ही भुला दे; किन्तु भावनाओं की विकसित अवस्था में वह सृष्टि में चेतना का नित्य नवीन सौन्दर्य देख सकता है।

भावनाओं की विकसित अवस्था में ही वह अपने व्यक्तित्व की संकुचित परिधि से ऊपर उठ सकता है और उस सत्य की अभिव्यक्ति कर सकता है, जो चेतना में विकसित होकर आनन्द की अनुभूति में है। इस उदार दृष्टिकोण में ही विश्व की संवेदना है और मानव इस उदार दृष्टिकोण से जिस जीवन की सूचना देगा, वह क्षणिक न होकर शताब्दियों में प्राण की भाँति पोषित होगा।

१ जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।

नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम्॥

माण्डूक्योपनिषद्, अद्वैतप्रकरण १३.

२ 'In the early morning,
I call to mind that Being
Felt secretly within the heart of man.
Eternal Truth,
Eternal Wisdom,
Eternal Joy,
In his Truth, Wisdom, Joy
Perfected souls of men may share'.

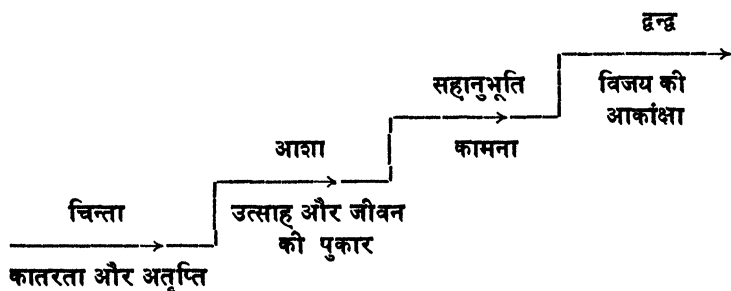
Songs from Prison-- M. K. Gandhi.

(George Allen & Unwin, Ltd. 1934.)

मानवता के विकास का पृष्ठ-पट हिम-गिरि का उत्तुंग शिखर है, यह भावना की महानता का द्योतक है। प्रलय के प्रवाह में भी जो नहीं डूब सका, वह मानव ही है। किन्तु जो प्रथम पुरुष-मनु इस प्रवाह से निकला है, वह अपने नेत्रों में जल की तरलता लिए हुए है।^१ मानवता के विकास में मनोभावों की स्थिति मानवता का रहस्य यही है कि उसके आदि पुरुष के नेत्रों में जीवन की तरलता है। स्वस्थ रक्त के संचार

से उभरी हुई शिराओं और अवयव की दृढ़ मांस-पेशियों को लेकर भी वह चिन्ता-कातर है। वह विस्तृत हिम की स्तब्धता अपने हृदय में लिए हुए है और उसकी मर्म-वेदना करुणा की विकल कहानी बनकर निकल रही है। इसका कारण था। मनु में देव-संस्कार होते हुए भी वासना थी और उसी वासना की उत्कट लालसा में समस्त वैभव—वासना के प्रतिनिधि मुरझा गए थे। वे अपनी ही ज्वाला में जले और जल में गल गए थे। देवताओं की अतृप्ति का संस्कार मानव को भी मिला है और यही अतृप्ति उसके जीवन की सबसे बड़ी स्फूर्ति है। इसी स्फूर्ति में आशा है, जो उषा बनकर सुनहले तीर बरसाती हुई जय-लक्ष्मी की भाँति उदित होती है, जिससे काल-रात्रि भी पराजित हो जाती है। इसी आशा में जीवन की पुकार है, जिसके चरणों में नव प्रभात का शुभ उत्साह भी नत होता है। दुःख की प्रचण्ड आग में तपने के बाद आदि पुरुष ने सहानुभूति के समझने की क्षमता प्राप्त की। उसमें कामना की सृष्टि हुई और इसी कामना में चिर-परिचित-सा द्वन्द्व लीन हो गया।

इस भाँति यह देखा जा सकता है कि मानव के प्रथम संस्कारों में एक क्रम है, एक विकास है, चिन्ता जनित कातरता से आगे बढ़कर वह द्वन्द्व तक पहुँचता है।



१ 'एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।'

कामायनी, चिन्ता सर्ग (श्री जयशंकर प्रसाद)।

कातरता और अतृप्ति का व्यक्त रूप है चिन्ता; उत्साह और जीवन की पुकार का व्यक्त रूप है आशा; कामना का व्यक्त रूप है, सहानुभूति और विजय की आकांक्षा का व्यक्त रूप है, द्वन्द्व। इस भाँति मानस-पटल पर भावों और अनुभावों की यह सृष्टि आदि काल से इस समय तक बराबर चली आई है।

आज भी जीवन के प्रत्येक कार्य में यह क्रम बराबर देखा जा सकता है। किसी भी क्रिया के आरंभ में कातरता और अतृप्ति-जनित चिन्ता होती है। जीवन की प्रेरणा से यह चिन्ता उत्साह और जीवन की पुकार लेकर आशा में प्रतिफलित होती है। आशा की स्थिरता कामना में लीन होकर व्यापक सृष्टि में सहानुभूति को जन्म देती है। अन्त में द्वन्द्व ही विजय की आकांक्षा लेकर आगे बढ़ता है। साहित्य की सृष्टि भी अतृप्ति की चिन्ता-धारा से प्रेरित हो, आशा और सहानुभूति से पुष्ट होती हुई विश्व-विजय की आकांक्षा रखती है।

सन् १८७२ में चार्ल्स डार्विन ने मानवता के विकास के संबंध में एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसके अनुसार सृष्टि के सहस्रों वर्ष बाद विकासवाद की विविध सादियों पर चढ़ते हुए मानव ने वानर (गोरिला या शिम्पैन्जी) की शृंखला से अपना अस्तित्व प्राप्त किया। अपने अस्तित्व में भी वह सहस्रों वर्षों तक पेड़ की डालियों पर उछलता रहा और आत्म-रक्षण तथा विनोद के अतिरिक्त उसमें किसी भी प्रवृत्ति का विकास नहीं हुआ। भू-गर्भ शास्त्र और जीव-विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध किया गया कि मानव भी उसी प्रकार परिवर्तनों के चक्र से विकसित होता चला आया है, जैसे अन्य जीव जन्तु, जिनके अस्थि-पिंजर शताब्दियों से बर्फ और चट्टानों में दबे हुए पाये गए हैं और उनमें अन्तर होता चला आया है। परिस्थितियों के परिवर्तन के लाखों वर्षों का इतिहास इस पृथ्वी ने सुरक्षित कर रखा है और पृथ्वी के विकास की तीसरी अवस्था में, और तीसरी अवस्था के मध्य भाग में ही, जीव-सृष्टि की सुदृढ़ शृंखला दीख पड़ती है^१। इस जीव-सृष्टि के पूर्व और उत्तर का इतिहास विकासवाद के क्रम से ही संबद्ध है और मानव इस जीव-सृष्टि से पहले कभी न रहा होगा, जिस तरह विद्युत से पहले हम 'एक्स-रे' की खोज नहीं कर सके। मानव के आदि पुरुष ने बन्दर से ही अपनी कुल-परंपरा प्राप्त की। इसका एक कारण यह भी है कि बन्दर के रक्त में वही प्रतिक्रियात्मक लक्षण हैं जो मानव के रक्त में हैं।^१

१ Darwinism and What it implies—Prof. Sir Arthur Keith, Page 46, Watts & Co, London 1928.

चार्ल्स डार्विन का यह सिद्धान्त विकासवाद की कसौटी पर खरा नहीं उतरता । यदि मानव ने अपने विकास के लिए अपने से हीन जीवों की पृष्ठभूमि स्वीकार की होती, तो मानव की इस विकसित अवस्था तक आते आते-अन्य जीवों के रूपों में भी अभी तक यथेष्ट विकास हो गया होता । विशेषकर बन्दरों की सभी जातियाँ आज मानव में परिवर्तित हो गई होतीं और बन्दरों का अस्तित्व इतिहास का विषय हो गया होता । मेरी दृष्टि से जीवों की अनेक कोटियाँ हैं, और कोटियों के अंतर्गत ही विकासवाद का सिद्धान्त आदिकाल से कार्य करता चला आया है । एक कोटि का जीव दूसरी कोटि में परिवर्तित होकर अपना विकास नहीं करता । वह तो अपनी ही कोटि में हीनावस्था से चरमावस्था तक बढ़ सकेगा । फटे हुए खुरों का साम्य स्वीकार कर कोई भी यह नहीं कह सकेगा कि समय की किसी भी स्थिति में कभी बकरी गाय बन सकेगी, भले ही वह अपने बच्चे को गाय की भाँति दुग्ध-पान करावे, या गाय की भाँति उसके शरीर पर भी बाल हों । इसी प्रकार गिलहरी और नेवले में बहुत-सी बातें समान देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि नेवले के आदि में गिलहरी है या गिलहरी के आदि में नेवला । प्रत्येक जीव की एक अलग कोटि है । इसी प्रकार आदि-काल से मानव की एक स्वतंत्र कोटि रही है और उसी कोटि के अन्तर्गत उसका विकास हुआ है । विकासवाद का कोई भी सिद्धान्त बन्दर को मनुष्य नहीं बना सकता । विकासवाद का सिद्धान्त समझाते हुए श्री बोनर का कथन है कि विकासवाद केवल उन प्रेरणाओं और स्फूर्तियों का नियमित अभिव्यक्तीकरण है जो किसी जीव में अन्तर्निहित है । इस भाँति जीव की निम्न और उच्च कोटि में कोई कारणभूत संबंध नहीं है ।'

दूसरी बात यह है कि आज तक विकासवाद की उन प्रक्रियाओं का पता नहीं चल पाया जिनसे अमानव कोटि से मानव कोटि की सृष्टि हो सके । वह कौन सी क्रियात्मक शक्ति रही है, जिसने हमारे दांत और जबड़े छोटे कर दिए ?

- १ Evolution, therefore, in the strict sense of the word, implies the orderly unfoldment of the plane of manifestation of potentialities, already inherent in the formative principle of that which is said to evolve. It does not necessarily involve any Causal relationship, in the strict sense, between a lower stage and a higher one.

हमारी पूँछ गायब हो गई, हमारे शरीर के बाल झड़ गए, हमारे हाथ छोटे हो गए, हम दो पैरों पर दृढ़ता के साथ खड़े होना सीख गए, हमारा मस्तिष्क तिगुना बढ़ गया और हम आत्म-चिन्तन और आत्म-ज्ञान की अकल्पित गहराइयों की थाह लेना सीख गए ! यह भी हम प्रतिदिन देखते हैं कि शताब्दियों से बन्दर जहाँ था, आज भी वहीं है और हम संस्कृति और सभ्यता के उच्च शिखर पर चढ़ते चले जा रहे हैं ! मानव सृष्टि का सबसे श्रेष्ठ प्राणी है, अतः अन्य जीवों से साम्य रखते हुए भी उसकी कोटि विलकुल स्वतंत्र है । ऐतरेय उपनिषद् में भी सृष्टिक्रम के अंतर्गत गो और अश्व-शरीर की उत्पत्ति के अनन्तर स्पष्ट रूप से एक स्वतन्त्र जीव-कोटि के रूप में मनुष्य शरीर की उत्पत्ति का वर्णन है ।^१ प्रथम अध्याय के प्रथम खंड में ही पुरुष-रूप लोकपाल की रचना का उल्लेख है ।^२

इस प्रकार सृष्टि के अनन्त परिवर्तनों में हमारे आदि पुरुष मनु ने ही अपना विकास किया है, और उन समस्त मनोवैज्ञानिक महानताओं को प्राप्त किया है, जिनकी संभावना आदि में ही मानव की जीव-कोटि में निहित रही है । आदि वृत्तियों में विकास हुआ है और जीवन में द्वन्द्व का आश्रय ग्रहण कर वह बड़ी से बड़ी विजय का अधिकारी बन सका है । साहित्य ने इन्हीं अधिकारों का इतिहास सुरक्षित किया है और उन्हीं मनोभावों से प्रेरणा ग्रहण की है, जो मानव जाति के इतिहास की साक्षी रही है ।

आदि प्रवृत्तियों ने जैसे जैसे परिस्थितियों की भूमि प्राप्त की वैसे वैसे वे अनेक प्रकार से अंकुरित हुईं और मानव जीवन अपनी अभिव्यक्ति में अनेक क्षेत्रों में नदी के प्रवाह की भाँति फैलने लगा । अपने विकास की मनोविज्ञान का विकास आकांक्षा में उसने सहानुभूति प्राप्त की और यह सहानुभूति उसके आत्म-रक्षण की प्रवृत्ति के समानान्तर ही कार्य करने लगी । सहानुभूति ने व्यक्ति के 'स्व' की परिधि को अधिक विस्तृत

१ ताम्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ।

ताम्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥१॥२॥२॥

ताम्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन सुकृतं बतेति ।

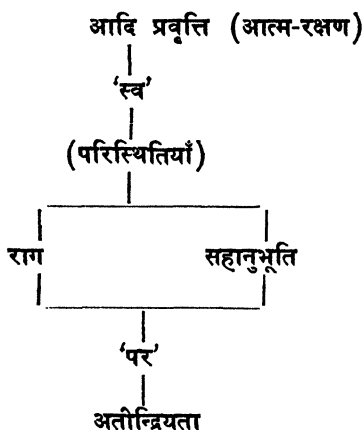
पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवीद्यथायतनं विशतेति ॥१॥२॥३॥

ऐतरेय उपनिषद् ।

२ स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालाभ्युसृजा इति सोऽद्भ्यएव पुरुषं सद्घृत्यामूर्च्छयत् ।

१॥१॥३॥

बनाया और 'पर' के क्षेत्र में प्रवेश किया। इस सहानुभूति ने उसकी रागात्मक प्रवृत्ति का आश्रय लिया और यह प्रवृत्ति उनके इन्द्रिय जगत् को समेटते हुए अतीन्द्रियता की दिशा प्राप्त करने लगी। इस रेखा-चित्र से यह मनोविज्ञान अधिक स्पष्ट होगा :—



मानव-मनोविज्ञान अपने विकास में दो माध्यमों से अग्रसर हुआ है। प्रथम है शब्द, और दूसरा है अर्थ। जिन तत्वों से प्रकृति का निर्माण हुआ है, उनमें आकाश प्रधान है और आकाश का गुण शब्द है। विश्व की प्रत्येक अभिव्यक्ति में आकाश का आवरण है और इस भाँति समस्त संसार में शब्द अखंड रूप से वर्तमान है। अतः मानव ने जिस सृष्टि में अपना अस्तित्व पाया, उसमें उसने आकाश का मेघ-गर्जन सुना, ज्वालामुखियों के विस्फोट की प्रचण्ड प्रतिध्वनि सुनी और झंझा का भीम प्रकम्पन सुना। सृष्टि के स्थिर होने पर सरिताओं का कलकल और इतर जीवों का कलरव भी सुना। इस भाँति सभी प्रकार के शब्दों से उसका परिचय हुआ। उसने भी देखा कि उसके पास वाणी है, उसमें शब्द है, कम्पन है। किन्तु वातावरण के शब्द में और उसके शब्द में कुछ अन्तर है। वातावरण का शब्द किसी कार्य के अर्थ अथवा इति का सूचक है, जिसे वह सुनकर समझ सकता है, किन्तु उसके शब्द में एक विचित्र प्रकार की मानसिक प्रेरणा है—एक भावना का आरोह या अवरोह है। उस शब्द के त्रोड़ में आत्माभिव्यक्ति की एक प्रबल हिलोर है जो बार-बार हृदय से उठकर उसके ओठों तक टकराती है और बाहर निकलने का प्रयत्न करती है। उस आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा शब्द का रूप प्राप्त करना चाहती है,

उस शब्द का—जो तरंग रूप से आकाश का गुण बनकर उसे मंडित किए हुए है। चाहे वह शब्द प्रकृति के शब्द का अनुकरणात्मक रूप हो, चाहे वस्तु-संकेत के आधार पर रूप या गुण का विधेयक हो। अतः मानव के पास जो शब्द है, उसमें अर्थ की अभिव्यक्ति है, अथवा अर्थ की अभिव्यक्ति के अनुरूप मानव के पास शब्द है। शब्द अर्थ-सहित है और अर्थ शब्द-सहित है। इसीलिए तो शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप 'साहित्य' है। शब्द और अर्थ कहने के लिए तो भिन्न हैं, क्योंकि शब्द का स्फोट 'शारीरिक' प्रक्रिया है और अर्थ की लहर 'मानसिक' अनुभूति है, तथापि दोनों की स्थिति एक है। जल और लहर की भाँति दोनों एक हैं, शरीर और प्राण की भाँति दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं। महात्मा तुलसी ने राम और सीता की अभिन्नता का संकेत शब्द और अर्थ की अभिन्नता का आधार लेकर ही किया :

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ।

बन्दउँ सीताराम पद, जिन्हि परम प्रिय खिन्न ॥^१

शब्द और अर्थ का यह योग तब तक साहित्य नहीं बना, जब तक उसने स्वानुभूति से सत्य को नहीं पहचाना। सत्य एक है, तथापि उसकी अभिव्यक्ति विविध रूपों में है। सत्य का एक रूप तो अंतर्जगत् में संचित

साहित्य की सृष्टि है और दूसरा रूप बहिर्जगत् में नाना रूप और रंग लेकर व्याप्त हो रहा है। मनोभावों की हिलोर से जब अंतर्जगत् का सत्य बहिर्जगत् के सत्य के संपर्क में आकर एक संवेदना या सहानुभूति उत्पन्न करता है, तभी साहित्य की सृष्टि होती है।

यह कहा जा सकता है कि साहित्य की सृष्टि में शब्दों का सुसंगठित रूप—जिसे भाषा का नाम दिया जाता है—आवश्यक है। भाषा के बिना साहित्य में स्थिरता नहीं आ सकती। किन्तु मनोवैज्ञानिक रूप से यह भी कहा जा सकता है कि साहित्य की मूल प्रेरणाएँ भाषा के पूर्व भी वर्तमान रह सकती हैं, क्योंकि इन प्रेरणाओं का संबंध मनोभावों से है। ये मनोभाव मानव की रागात्मक प्रवृत्ति में आश्रय प्राप्त करते हैं। जब मानव अपने वन्य जीवन में कन्दमूल खाकर पहाड़ों की गुफाओं में निवास करता होगा और उदर-पोषण ही उसके जीवन का प्रमुख ध्येय रहा होगा उस समय भी जब उसने किसी शिला के पाषाण-हृदय पर किसी एकाकिनी निर्झरिणी का अनवरत आत्म-समर्पण देखा होगा, तो वह एक क्षण के लिए भाव-विभोर हो गया होगा। अथवा, जब उसने आकाश में इन्द्रधनुष की

नमित रूपराशि देखी होगी, तो उसने प्रसन्न होकर इन्द्रधनुष के रंगों के अनुरूप वन्य कुसुमों की एक माला काँटों से गुंथकर 'किसी' को पहनाने की अभिलाषा अवश्य की होगी। आदि मानव से लेकर पूर्ण मानव तक यह भावना एक-सी रही है। भगवान् राम ने भी स्फटिक शिला पर बैठकर 'सुहाये कुसुम' चुने और अपने ही हाथों से भूषण बनाकर सादर श्री सीता को पहिनाए।

किन्तु भाषा रहित साहित्य न स्थिर है, न स्थायी। मानव-प्रवृत्तियों के विकास पर विचार करते हुए ऐसे साहित्य का अनुमान-मात्र किया जा सकता है। हमारा सम्बन्ध तो ऐसे साहित्य से है, जो भाषा के रथ पर चढ़कर विश्व-विजय की कामना से अग्रसर होता है, वह विश्व जो बहिर्जगत् की अपेक्षा अन्तर्जगत् में अधिक फ़ैला हुआ है।

मानव-मन अपने जीवन की दैनिक गति में 'अर्थ' की प्रेरणा से चाहे जितने शब्दों का प्रयोग करे, वे सब साहित्य के अंतर्गत होंगे, ऐसा संभव नहीं है। शब्द और अर्थ

की संगति तभी साहित्य का रूप ग्रहण कर सकती है,

साहित्य का अर्थ

जब उसकी प्रेरणा दो रूपों में अग्रसर हो। प्रथम तो

वह जिसमें किसी परिस्थिति-विशेष में मानव अपने

अंतर्जगत् की गहराइयों में जाकर किसी मनोभाव को राग-रंजित कर दे, और द्वितीय वह, जब मानव 'स्व' से निकलकर 'पर' में सहानुभूति की सृष्टि करता हुआ उसे 'स्व' से संबद्ध कर ले। इस मनोस्थिति में बहिर्जगत् भी अंतर्जगत् का भाग बन जाता है और राग से अनुराग उत्पन्न हो जाता है। दोनों ही रूपों में मनोभावों की विशेष प्रक्रिया है और उनमें किसी न किसी रूप से जीवन में अन्तर्निहित सत्य, हृदय की संवेदना से संबद्ध होकर, आकर्षण का केन्द्र बन जाता है।

साहित्य का तात्पर्य जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण स्थिति के ऐसे प्रस्तुतीकरण में है, जिसमें उसे एक रागात्मक रूप प्राप्त हो सके। राग मनुष्य की प्रमुख प्रवृत्ति है, जो मानवता के रक्त के साथ संचरित होती है। और जब तक मानव मानव है, तब तक यह राग उसकी संवेदना का प्रमुख अंग है। इस भाँति रागात्मकता से अनुरंजित परिस्थिति स्थायी और अमर होने की संभावना रखती है, क्योंकि मानवता के साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। यह राग 'स्व' और 'पर' की दोनों बाहुओं से समस्त विश्व को अपने क़ोड़ में समेटे हुए है। विश्व की संपत्ति के रूप में यह रागात्मक मनोभाव सदैव ही हित-कामना से भरपूर है। वह 'स-हित' होने के कारण ही साहित्य है।

साहित्य 'श्रेय' और 'प्रेय' के कूलों में प्रवाहित होता है। इस भाँति उसकी दो दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि तो वह है, जो सौन्दर्य के मनोभाव को ग्रहण करती है और वहीं समाप्त हो जाती है तथा दूसरी दृष्टि वह

साहित्य की दृष्टि है, जो सौन्दर्य के स्थान पर उसकी अनिवार्यता या उपयोगिता को ध्यान में रखती है और ज्ञान-विज्ञान

की सीमाओं का स्पर्श करती है। दोनों दृष्टियों में अन्तर है। सौन्दर्य अपने विशिष्ट आकर्षण से आत्म-तृप्ति या आत्म-संतोष की आकांक्षा लेकर अपने आपमें पूर्ण हो जाता है और अनिवार्यता या उपयोगिता जीवन के अभावों की पूर्ति करती हुई मानवता का भविष्य-पथ प्रशस्त करती है। प्रथम का संबंध कला से है, दूसरी का संबंध विज्ञान से। पहली प्रवृत्ति अंतर्जगत् से संबंध रखती है, दूसरी बहिर्जगत् से।

अंतर्जगत् और बहिर्जगत् एक दूसरे में प्रवेश करते हुए भी भिन्न हैं। अंतर्जगत् उन समस्त अनुभवों की समष्टि है, जो स्थूल जगत् के प्रभावों से उत्पन्न होकर कल्पना और भावना के कोने कोने में फैल जाते हैं। ये अनुभव रति, शोक, हास, उत्साह, क्रोध, भय, घृणा, आश्चर्य या निर्वेद किसी एक से या अनेक से संबंध रखते हुए हमें नई दृष्टि प्रदान करते हैं। इन अनुभवों का हमारे संस्कारों के साथ योग होता है। हम एक विशेष प्रकार से स्थूल जगत् के क्रोड़ में प्रवेश करते हैं। 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तँसी' के आधार पर हम अपनी प्रवृत्तियों और संस्कारों की दृष्टि से प्रस्तुत वस्तु या घटना को देखने लगते हैं। सुबेल शैल पर प्रभु राम ने चन्द्रोदय देखकर अपने समीपवर्ती विभीषण अंगदादि से पूछा कि 'चन्द्रमा में जो श्यामता है, वह क्या है? अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार कहो'।

१ लंकाकाण्ड, रामचरित मानस।

कह प्रभु ससि महुँ मेचकताई। कहहु काह निज-निज मति भाई।
 कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महुँ प्रगट भूमि कं छाई॥
 मारुउ राहु ससिहि कह कोई। उर मेंह परी स्यामता सोई॥
 कोइ कह जब विधि रति मुख कोन्हा। सार भाग ससि कर हरि लोन्हा॥
 छिद्र सु प्रगट इन्दु उर माँही। तेहि नग देखिअ नभ परिछाहीं।
 प्रभु कह गरल बन्धु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दोन्ह बसेरा।
 विष संजुत कर-निकर पसारी। जारत विरहवंत नर-नारी।
 कह हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
 तव मूरति विधु उर बसति, सोइ स्यामता भास।

किष्किधा के नवीन पृथ्वीपति सुग्रीव ने कहा कि 'चन्द्रमा में भूमि की छाया प्रकट हो रही है।' रावण के पद-प्रहार को स्मरण रखनेवाले विभीषण ने कहा कि 'राहु के प्रहार से चन्द्रमा में श्यामता है।' शिल्पी नल-नील ने कहा कि 'जब ब्रह्मा ने कामदेव की स्त्री रति का मुख बनाया, तो उसने चन्द्रमा का सार-भाग निकाल लिया। सार-भाग निकल जाने से चन्द्रमा के मध्य में छिद्र होगया और उसी से आकाश की छाया दिखलाई दे रही है।' विरही राम ने कहा, 'विष (सागर से उत्पन्न होने के कारण) चन्द्रमा का भाई है तथा प्रिय होने के कारण चन्द्रमा ने अपने भाई विष को अपने हृदय में स्थान दे दिया है। इस प्रकार चन्द्र की किरणें विष में बुझी रहने के कारण विरह-संतप्त नर-नारियों को जलाती हैं।' अन्त में भक्त हनुमान ने कहा कि 'हे प्रभो ! चन्द्रमा आपका प्रिय दास है। आपकी सुंदर श्याम मूर्ति चन्द्रमा के हृदय में निवास करती है, उसी की श्यामता चन्द्रमा के हृदय में है।'।

इस भाँति प्रत्येक व्यक्ति ने अपने संस्कारों और प्रभावों के कारण एक ही वस्तु को अपने अंतर्जगत् में भिन्न भिन्न रूपों से देखा। तभी तो सब के उत्तर सुनने के बाद राम मुस्कुराए कि परिस्थितियों से मानसिक क्षितिज पर विचारों की कितनी विविधता हो सकती है। इसी विविधता में कला है, सौन्दर्य है।

सौन्दर्य के दो पक्ष हैं। एक इन्द्रिय-जनित और दूसरा आध्यात्मिक। प्रथम का प्रतिफलन सुख में होता है और दूसरे का आनन्द में। सुख या आनन्द का स्थूल प्रतीक सौन्दर्य है। अतः सौन्दर्य की परिभाषा में हम ललित दृष्टि यही कह सकते हैं कि सौन्दर्य स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म की वह सहज परिस्थिति है, जिसकी प्रगति सुख या आनन्द की ओर है। सुख इंद्रियों का विषय है और आनन्द अन्तःकरण का। इसीलिए महात्मा तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में प्रभु राम के नाम का संकेत करते हुए कहा है—

जो आनन्द सिन्धु, सुख रासी। सीकर तें त्रैलोक्य सुपासी।

सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा।'

अतः सौन्दर्य इन्द्रिय-जनित या अन्तःकरण-जनित रागात्मक मनोवेग के विश्राम में है। यह चाहे सुख हो, चाहे आनन्द। सुख क्षणिक है, आनन्द स्थायी। इसीलिए उपर्युक्त पंक्तियों में सुख को राशि की संज्ञा दी गई है और आनन्द को सागर की। इन्द्रिय-जनित होने के कारण, अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों से सुख की

राशि कम या अधिक हो सकती है, किन्तु अंतःकरण-जनित होने के कारण आनन्द सागर की भाँति अगाध है, अपनी मर्यादा में स्थित है ।

यह भी संभव हो सकता है कि आरंभ का सुख, अन्त का आनन्द बन जावे । हमारी अनुभूति स्थूल में अंकुरित होकर सूक्ष्म में प्रतिफलित हो सकती है, और इन्द्रियों का विष अंतःकरण का अमृत बन सकता है । लौकिक प्रेम की तीव्रता निराशा के तट से टकराकर अलौकिक प्रेम के सागर की ओर प्रवाहित होने लगती है । जन-श्रुति के अनुसार रत्नावली के प्रति उत्कट प्रेम की निराशा ने ही 'रामबोला' को रामभक्त 'तुलसी' बना दिया था । सुजान वेश्या के प्रति घनानन्द के प्रेम ने निराश होकर ही ब्रजचन्द्र को अपनाया था । अतः लौकिक प्रेम परिस्थिति बदलते ही उदात्त बन जाता है, उसकी ऐन्द्रियक वासना का ऊर्जस्वीकरण हो जाता है और हृदय में आनन्द का सागर लहराने लगता है । इस भाँति सौन्दर्य की भावना अन्तःकरण के कोने-कोने में संचरित होने लगती है तथा उसीसे प्रेरित हो कला नित्य नवीन रूप में प्रस्फुटित होने लगती है ।

इस प्रकार कलात्मकता सौन्दर्य से उठती है और साहित्य की उन समस्त दिशाओं में छा जाती है, जिनका संबंध अंतर्जगत् की कल्पना और भावना से है । यह वह ललित दृष्टि है, जो वसंत ऋतु की भाँति अग्रसर होती है, जिसमें काव्य, नाटक, कथा, उपन्यास, आलोचना, विविध रंगों के पुष्पों की भाँति प्रस्फुटित हो उठते हैं । उनमें मनोभावों की सुरभि, भाषा की तरंगों पर झूमती है और प्रति-क्षण आनन्द और संतोष की दिशा में प्रवाहित होती रहती है ।

यद्यपि बहिर्जगत् अंतर्जगत् से ही अनुभव के अंतर्गत आता है, तथापि उसकी स्थिति स्थूल में सीमित होकर अलग भी है । यह वन, यह पर्वत, ये शिलाएँ, ये सरि-

ताएँ, यह कूल और कूल की हरियाली, लता-कुंज,

उपयोगी दृष्टि प्रसून आदि हमारे अंतर्जगत् में भिन्न भिन्न कार्य-

व्यापारों के प्रतीक बनकर भले ही आएँ, तथापि वन

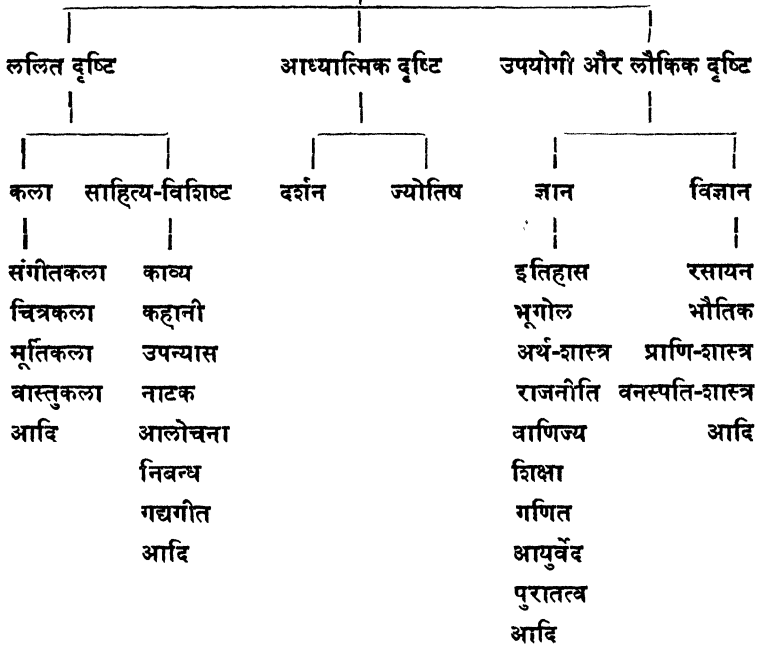
की निर्जनता, पर्वत की विशालता, शिलाओं की कठोरता, सरिताओं की वक्रता, कूल की उच्चता, हरियाली की मसृणता, लताओं की कोमलता और प्रसून की सुगंध अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी रखती हैं । जीवन के विस्तार और विकास में इनका क्या स्थान है, जीवन को सुविधाजनक या सुखी बनाने के लिए इनकी क्या उपयोगिता है, यह भी हमारे चिन्तन का विषय बन सकता है । जब हम इनकी सुन्दरता या प्रभावोत्पादकता की प्रक्रियाओं से विमुख होकर केवल यह जानना

चाहेंगे कि वन में ऐसे कितने पेड़ हैं, जिनकी लकड़ी मकान बनाने के काम में आ सकती है! पर्वत की उच्चता ने भूमि को किन विभागों में विभक्त कर दिया है, जिससे मानव में परस्पर संपर्क नहीं रह गया है और उनकी सम्यता, भाषा और मनोवृत्ति दूसरे ढंग की हो गई है! शिलाओं में कितने पत्थरों के स्तर बन गए हैं जिनसे उनकी आयु आँकी जा सकती है! सरिताएँ कितने मील लंबी हैं और उनके प्रवाहसे कितनी नहरें निकाली जा सकती हैं! कूल कितना ऊँचा है जिससे बरसातमें नगरों में जल न भर सके! कूल की हरियालीमें कौन सी ऐसी जड़ी-बूटियाँ हैं जिनसे ओषधियाँ बन सकती हैं! लता-कुंज और प्रसून अपनी समानता और भिन्नता में कितने वर्गों का निर्माण करते हैं और इनके रंग और रूपमें किस प्रकार की भिन्नता आ गई है, तो हमारी दृष्टि उनकी उपयोगिता की ओर चली जाती है। वन से हम भूगोल और वाणिज्य की दिशा में सोचते हैं। पर्वत से हम अपने इतिहास और सम्यता के विकास की बात समझते हैं। शिलाओं से हम भूगर्भ-शास्त्र और पुरातत्व के सिद्धान्त बनाते हैं। सरिताओं से हम अर्थशास्त्र की युक्तियाँ सोचने लगते हैं। कूल पर हम नगर-निर्माण की योजना बनाते हैं। कूल पर उत्पन्न होने वाली जड़ी-बूटियों में हम आयुर्वेद को देखते हैं और लता-कुंजों और प्रसूनों में हम वनस्पति शास्त्र के दर्शन करते हैं। इस भाँति हमारे चिन्तन में उपयोगिता की दृष्टि से भूगोल, वाणिज्य, इतिहास, भूगर्भ-शास्त्र, पुरातत्व, अर्थ-शास्त्र, नगर-निर्माण, आयुर्वेद, वनस्पति-शास्त्र आदि अनेक ज्ञान और विज्ञान के रूप उपस्थित हो जाते हैं, जो बहिर्जगत् में अपना महत्त्व रखते हैं।

इस भाँति साहित्य की दृष्टि अंतर्जगत् और बहिर्जगत् दोनों ही ओर है। यद्यपि ज्ञान और विज्ञान के अनेक रूप भी साहित्य के अंतर्गत समाविष्ट हैं, तथापि साहित्य अपनी विशिष्ट दृष्टि में उन रूपोंमें अधिक संप्राण है, जो ललित या सौन्दर्य दृष्टि से अनुशासित है। ज्ञान-विज्ञान में बुद्धि और तर्क है, कला और उसके सौन्दर्य में कल्पना और भावना है। प्रथम स्थूल जगत् से संबद्ध है, द्वितीय सूक्ष्म जगत् से, जिसमें मानव को स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त होती है और उसका जीवन अधिक संवेदनशील हो जाता है। प्रथम रूप हमारी सम्यता को प्रशस्त करता है, द्वितीय हमारी संस्कृति को। किसी भी राष्ट्र के विकास में सम्यता और संस्कृति दोनों ही अपेक्षित हैं। अतः राष्ट्र के साहित्य में उपयोगी और ललित दोनों ही प्रकार के साहित्य की अपेक्षा है।

दोनों प्रकार के साहित्य का भेद निम्नलिखित तालिका से अधिक स्पष्ट हो जायगा ---

साहित्य



द्वितीय प्रकरण

साहित्य और जीवन

साहित्य जिस विशिष्ट दृष्टि को लेकर चलता है, वह जीवन के अंतर्जगत् और बहिर्जगत् दोनों का स्पर्श करती है। इन दोनों क्षेत्रों में वह दृष्टि सौन्दर्य और

हित या उपयोगिता की भावना से ओतप्रोत है। इसीसे

स्थूल और सूक्ष्म

अनेक शास्त्रों का निर्माण हुआ है और कला एवं विज्ञान की अनेक शाखाएँ पल्लवित हो उठी हैं। इस संदर्भ में

हमारा संबंध केवल उस साहित्य से है, जो लालित्य या सौन्दर्य को आधार मानकर विकसित हुआ है। उसमें मनुष्य की रागात्मक अभिव्यंजना सबसे अधिक हुई है और जीवन की कल्पना एवं भावना की गहराइयों की थाह पाने में मनुष्य को सफलता मिली है। शताब्दियों से जो मानवता का इतिहास चला आया है, वह केवल स्थूल जगत् के उपकरणों से नहीं बना, अंतर्जगत् का प्रभाव भी उस पर है। उसमें केवल रूप ही रूप नहीं हैं, हृदय भी है। जड़ और चेतन का समन्वय है। यदि एक ओर अनंग-धनु की भाँति बाहु-लता है, तो दूसरी ओर प्रेम की विद्रुम-सीपी में आँसू का मोती भी है। यदि एक ओर नीलम की प्याली है, तो दूसरी ओर उसमें समानेवाली मानिक-मदिरा भी है। यदि एक ओर बिखरी हुई अलकें हैं, तो दूसरी ओर उसी की भाँति अनेक उलझनें भी हैं। इस प्रकार बाह्य जगत् और अंतर्जगत् ने—जड़ और चेतन ने—ऐसे साहित्य का निर्माण किया है, जो मानवता का पथ प्रशस्त कर अतीत की शृंखला को भविष्य की कड़ियों से जोड़ सके।

स्थूल जगत् साहित्य का आधार अवश्य है, किन्तु अंतर्जगत् ही साहित्य को सँवारने में सक्षम है।

वस्तुतः स्थूल जगत् का जो अर्थ है, उसकी जो व्यंजना है, उसी में मानवता को बल मिला है। अपनी असफलताओं की नींव पर ही उसने अपनी सफलता का प्रासाद खड़ा किया है। स्थूल संसार के प्रतीकों से उसने न जाने कितने सूक्ष्म के स्वर्ग निर्मित किए हैं। उसकी आशा ने मृत्यु के अंधकार के उस पार उठते हुए जीवन के बाल-सूर्य के दर्शन कर लिए हैं। उसकी कल्पना के

इन्द्रधनुष में जीवन की परिस्थितियाँ सप्त रंगों की रेखा में निखर उठी हैं, उसकी भावना का अनन्त अनुराग और विराग पुष्प की सुगंध बनकर वायु-मंडल के कण-कण में समा गया है। उसकी प्रेरणा के मेघ-मंडल ने आकाश में अपने प्रचण्ड अस्तित्व की घोषणा कर पृथ्वी को धारासार से आप्लावित कर दिया है, जिससे भूमि की प्रत्येक कणिका मातृत्व का वरदान प्राप्त कर नन्हें अंकुरों को अपनी गोद में झुला सके। इस प्रकार स्थूल के अंतर्गत सूक्ष्म की आशा, कल्पना, भावना और प्रेरणा ने मानवता के इतिहास में न जाने कितने अध्याय जोड़ दिए हैं, जिससे उसके भविष्य के संकेत अधिक अर्थपूर्ण और प्रशस्त बन गए हैं। मानस में महात्मा तुलसीदास ने राम (स्थूल) से अधिक नाम (सूक्ष्म) का गौरव स्थिर किया है। वे कहते हैं—

सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति बीन्ह रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुन गाथ ॥^१
ब्रह्म राम तें नाम बड़, वरदायक वरदानि ।
रामचरित सतकोटि महें लिय महेश जिय जानि ॥^२

महात्मा तुलसी ने राम के जीवन की समस्त कथा क्रम से कहकर यह सिद्ध कर दिया कि राम ने जीवन के समस्त प्रसंगों में वह कार्य नहीं किया, जो उनके नाम ने किया। स्थूल शरीर की सीमा से राम उतने कार्य कैसे कर सकते थे जो सूक्ष्म होकर नाम ने किए ?

इसका सबसे बड़ा कारण तो यही है कि राम केवल समय के किसी विशिष्ट युग में ब्रह्म के प्रकट-रूप हैं, किन्तु नाम समस्त युगों में ब्रह्म की उन संचित विभूतियों का प्रतीक है, जिनसे मानवता ने अपने विकास में बल प्राप्त किया है। नाम तो अनन्तकाल के कोदण्ड से प्रेरित होनेवाले अगणित दिव्य बाणों का प्रतीक है, राम उन बाणों में से केवल एक हैं। इस प्रकार नाम का महत्व सरलता से राम की अपेक्षा अधिक हो ही जाता है। यह प्रतीक प्रेरणा का अनन्त स्रोत है। इसी स्रोत की अनेक तरंगों ने मानवता को—मानव के हृदय को—प्रक्षालित कर उसे देवोपम सौन्दर्य प्रदान किया है।

अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य की भावात्मकता स्थूल जगत् की भौतिकता से अधिक महान् है। उसी में मनुष्य ने अपनी निराशाओं को नवीन आशा-तन्तुओं से

१ रामचरित मानस—बाल-काण्ड, दोहा, २४ ।

२ रामचरित मानस—बाल-काण्ड, दोहा, २५ ।

जोड़कर जीवन को विकासोन्मुखी बनाया है। जीवन की यह प्रगतिशीलता ही साहित्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जीवन ही साहित्य का मेरुदण्ड है, जो स्थूल और सूक्ष्म की अनन्त ग्रन्थियों से निर्मित है। साहित्य जीवन की संवेदनाओं से अलग रह ही नहीं सकता। यदि वह स्वस्थ संवेदनाओं से रहित है, तो वह अजागल-स्तन की भाँति निरर्थक है। पश्चिम के दृष्टिकोण ने साहित्य को जीवन की समीक्षा कहा है^१, जो बहुत अंशों में ठीक है, लेकिन पश्चिम ने जीवन को बहुत सीमित क्षेत्र में देखा है। वह केवल कल्पना और भावना की समष्टि है। इन्द्रियों के द्वारा जो जीवन ग्राह्य है, वही साहित्य का विषय है।

भारतीय दृष्टिकोण इससे आगे जाता है। हमारा जीवन केवल ऐन्द्रियक ही नहीं है, वह हमारी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का विषय ही नहीं है, वरन् उसमें ऐसी अनुभूतियाँ भी हैं जो प्रज्ञात्मक हैं—किसी कल्पना या भावना से समझाई नहीं जा सकतीं। रहस्यवादियों की अनुभूतियाँ किसी कार्य और कारण की शृंखला में नहीं बाँधी जा सकतीं। रूपक और प्रतीक ऐसा रूप धारण करके आते हैं कि सामान्य मानस-विज्ञान उन्हें ग्रहण ही नहीं कर सकता। यह अनुभूति इतनी गहरी है कि भाषा भी उसे व्यक्त नहीं कर सकती। कबीर ने अपने राम के संबंध में कहा है—

एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि।

है जैसा तैसा रहे, कहे कबीर बिचारि॥

एक और अनेकता के बीच की स्थिति हमारा मन नहीं जानता। कबीर ने बहुत विचारकर निरूपाय होकर कहा कि जैसा वह है, वैसा ही उसे समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार 'सहज' का रूप 'सहज की कथा निरारी रे' कहकर विचित्र विशेषणों के प्रयोग से स्पष्ट करने का प्रयत्न कबीर ने किया।

हमें तो जीवन की परंपरा में विश्वास है। जन्मान्तरवाद की अनन्त शृंखला में हमारे जीवन की अनुभूति है। कर्म की प्रधानता हमारे जन्मान्तरवाद से जुड़ी हुई है। कर्म में ही हमारे संस्कारों की सृष्टि है, जो जन्म-जन्म तक चली जाती है। राम के संबंध में सती को जो संदेह हुआ था—

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।

सो कि बेह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥

१ 'Literature is the criticism of life.'—Matthew Arnold.

उसका स्पष्टीकरण दूसरे जन्म में गिरिजा को समझाते हुए शिव ने किया —

जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।

सोइ दसरथसुत भगति हित, कोसलपति भगवान ॥

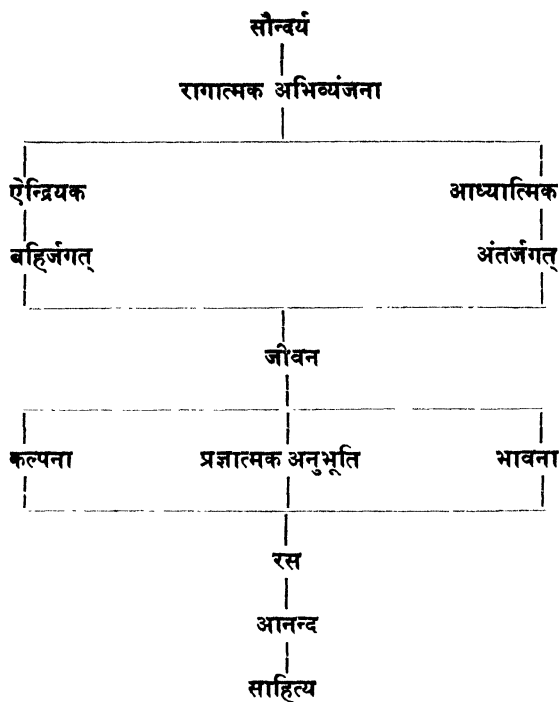
इस प्रकार हमारे जीवन की अनुभूति अनन्त है। पश्चिम के साहित्य ने तो केवल कल्पना और भावना के आश्रय से जीवन की समीक्षा को ही साहित्य की संज्ञा दे दी, किन्तु हमारे साहित्य का मूल जीवन की अनन्त संभावनाओं में है, जो कल्पना और भावना से भी परे हैं। इसका कारण यह है कि हमारे साहित्य ने अपने सृजन में 'रस' का माध्यम प्राप्त कर लिया है। यह रस लोकोत्तर अनुभूति है और ब्रह्मानन्द-सहोदर है। लोकोत्तर अनुभूति में हमारा अंतर्जगत् समस्त भौतिक प्रतिबन्धों को पार कर गया है। इसी अनुभूति में एक बार मेरी लेखनी ने ये पंक्तियाँ लिखीं —

मे जाता हूँ बहुत दूर, रह गई दिशाएँ इसी पार ।

साँसों के पथ पर बार बार, कोई कर उठता है पुकार ॥

दिशाएँ तो अनन्त गहराइयों में डूबी हुई हैं, उनसे भी आगे की स्थिति केवल अनुभव की वस्तु है और उस अनुभव की स्थिति में साँसों के प्रवाह में 'कोई' बार बार पुकारता है, जिससे पहिचान तो है, किन्तु विशिष्ट संज्ञा के अभाव में 'कोई' जैसे अनिश्चित शब्द से उसकी व्यंजना का प्रयत्न है। यह हमारे ऐसे जीवन की अभिव्यक्ति है, जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न होकर प्रकाश रूप से हृदय में जगमगा उठती है। वह अपौरुषेय है। किसी दिव्य-क्षण में किसी प्रतिभा-संपन्न कवि या लेखक को ऐसी अद्भुत प्रेरणा मिले कि उसके अंतःकरण में अनन्त ज्ञान का आलोक सहसा झलक उठे और उसी क्षण वह शब्द-यान से उसे संसार में प्रवेश करा दे। इसे दैवी स्फूर्ति ही समझनी चाहिए। यह प्रकांड चेतना का प्रतीक है।

हमारा जीवन इन समस्त अनुभवों को साहित्य की परिधि में समेट लेता है। यह साहित्य राग और सौन्दर्य में प्रतिष्ठित होकर रस-संभूत समस्त संकेतों को ग्रहण करता है और बहिर्जगत् की अपेक्षा अंतर्जगत् में जीवन के विराट् रूप को आँकने की चेष्टा करता है। इस विराट् रूप में भव्य भावनाएँ और कलित कल्पनाएँ शत-शत रूप धारण कर प्रकाश-पुंजों की भाँति जगमगाने लगती हैं और जीवन आकाशगंगा की भाँति शून्य में भी सौन्दर्य की सृष्टि करता है। इसी में आनन्द के प्रतीक रस की सृष्टि होती है, जो हमारा साहित्य है। इसे निम्न प्रकार से समझ लेना चाहिए —



साहित्य की अनेक मान्यताओं में एक मान्यता यह भी है कि वह स्थायी हो। साहित्य के दो रूप हैं। पहला रूप तो युग-संभूत है, दूसरा रूप चिरंतन है।

युग-संभूत साहित्य युग की भ्रू-भंगिमाओं से उठता साहित्य और स्थायित्व है और समस्याओं के कोड़ में डूब जाता है। किसी गोताखोर की तरह वह चारों ओर हाथ फैला कर अपनी समस्याओं का हल चाहता है। जैसे ही उसके हाथ में रत्न की भाँति समस्याओं का हल आ जाता है, वह ऊपर उठ आता है और उसका कार्य समाप्त हो जाता है। वंशावलियों की समाप्ति की भाँति उसकी भी समाप्ति हो जाती है और वह इतिहास के एक परिच्छेद की भाँति मानवता के अंग से जुड़ा रहता है।

चिरंतन साहित्य उस क्षेत्र से उठता है, जहाँ मानवता की आदि प्रवृत्तियों का संसार है, जो युगों के परिवर्तन से नहीं बदलता। यह संसार मनुष्य के अंतर्जगत् में है, जो चिरन्तन है। मनुष्य का प्रेम शताब्दियों को सींचकर भी आज नवीन अंकुरों पर अमृत-वर्षा करता है। प्रेम-प्रदर्शन की परंपराएँ बदलती हैं, किन्तु

प्रेम हृदय का समस्त समर्पण लेकर आज भी परिवर्तन-रहित है। प्रगति की अदम्य लालसा अनेकानेक भूकम्पों के भीषण आघातों और ज्वालामुखियों के अग्नि-मय विस्फोटों से पराजित नहीं हुई। दानवों ने मानव को पीसने के लिए कितने षड्यंत्र किए, रक्तबीज बनकर—भूमि के कण-कण में उत्पन्न होकर शक्तियों को चुनौती दी, किन्तु सत्व की विजय रही और मानव अपनी उदात्त भावनाओं के रथ पर चढ़ कर समस्त आकांक्षाओं और प्रगतियों का अधिनायक बना। यह साहित्य मानवता की संस्कृति का साहित्य है।

शताब्दियों तक मानवता के अनुरंजन और मार्ग-निर्देशन में साहित्य सशक्त रहे और किसी एक समय में लिखा हुआ साहित्य सब समय का साहित्य हो सके और अपनी नवीनता या मौलिकता में कभी पुराना न पड़े। मानवता का इतिहास अनेक युगों में बँटा हुआ है। ज्ञान-विज्ञान के विकास में समाज के आचार और व्यवहार की नई-नई दिशाएँ बनती चली जाती हैं। भूगोल का ज्ञान मनुष्य की परिस्थितियों का घेरा अधिकाधिक बढ़ाता चलता है। विविध समाजों का पारस्परिक संपर्क नई परंपराओं की नींव डालता है। अव्यवस्था में अनेक क्रान्तियाँ पोषित होती हैं और युद्ध में विजय या पराजय मनुष्य के जीवन में नये अध्याय जोड़ती चलती है। इस प्रकार एक युग का युद्ध-जनित मनोवेग दूसरे युग के शान्ति-संदेश से कैसे मेल खा सकेगा ? एक युग की भक्ति दूसरे युग की विलास-रेखा में कैसे रंग भर सकेगी ? अतः जो साहित्य परिस्थितियों के संकेत से उठता है, वह केवल सामयिक है और युग की समस्याओं का हल प्रस्तुत कर देना ही उसका प्रमुख उद्देश्य है। वह इतनी क्षमता तो रख ही नहीं सकता कि युग बदलने पर वह दूसरे युग की रुचि अपनी ओर आकर्षित कर सके। किसी इतिहास के अध्याय की भाँति युग की समाप्ति पर उसका भी अन्त हो जाता है। किसी बालिका की मनोमोहक गुड़िया शैशव ही में उसका अनुरंजन कर सकती है। जब बालिका युवती हो जाती है, तो बेचारी गुड़िया अपनी अभिभाविका खो बैठती है ! न कोई उसका व्याह रचानेवाला है, न उसके लिए कोई गुड्डा खोजनेवाला ! वह बेचारी एक कोने में फँक दी जाती है। अब उसके लिए न पीढ़ा है, न पिटारी, न रंगीन चुनरी है, न घूँघट। उसके दिन बीत गए ! अपनी ही अभिभाविका के विवाह-वस्त्रों के संदूक के नीचे उसका हाथ दबा हुआ है। नये युग का साहित्य भी अपने युग-प्रसूत सम्भार में पुराने युग की पोथियों को नीचे दबा देता है।

किन्तु जो साहित्य चिरंतन है, उसमें जीवनके ऐसे मर्मस्पर्शी अंश हैं, जो मानवता के तत्व से पोषित हैं, जिनमें मानवता की राग-रंजित उषा है, प्रखर मध्याह्न है या

सुहासिनी संध्या है। उन मर्मस्पर्शी अंशों में आदि मानव से लेकर सुसंस्कृत मानव तक ने अपने सुख का नन्दन-कानन सुसज्जित कर दिया है, और दुख की निशा लीन कर दी है। उनमें हँसी फूलों की भाँति खिली है और अश्रु-बिन्दु ओस-बिन्दुओं की भाँति विश्व-भर में बिखर गए हैं। उसमें मानव ने अपनी साधना का रूप देखा है, विशिष्ट परिस्थितियों में अपना शृंगार किया है, जो कभी धूमिल नहीं होगा।

सूरदास की यशोदा को लीजिए। भक्ति युग में यशोदा ने पुष्टिमार्ग की वात्सल्यासक्ति की पूर्ति भले ही की हो, तथापि उनमें मातृत्व की इतनी महानता है कि विश्व-भर की माताएँ उनमें अपना रूप देख सकती हैं, अपना प्रतिनिधित्व पा सकती हैं —

जसोदा हरि पालने झुलावै ।

हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै ।

मेरे लाल को आउ निदरिया, काहे न आनि सुवावै ।

तू काहे न बेगि सी आवति, तोकों कान्ह बुलावै ॥

कवहुँ पलक हरि मूँद लेते हैं, कवहुँ अधर फरकावै ।

सोवत जानि मौन ह्वै रहि रहि करि करि सैन बतावै ।

इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरे गावै ।

जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुर्लभ, सो नँद भामिनि पावै ॥'

यशोदा ने हरि को पालने में झुलाते समय जो भंगिमाएँ प्रदर्शित की हैं, वे प्रत्येक माता के वात्सल्य की स्वाभाविक चेष्टाएँ हैं। बच्चे को सुलाने के लिए उल्टा-सीधा कुछ जोड़कर गाना, नींद को बार-बार आग्रहपूर्वक डाँट कर बुलाना, बच्चे को सोता समझकर गीत रोक देना और किसी के द्वारा कोई बात पूछी जाने पर संकेत से बताना, बालक के सहसा जाग उठने पर फिर मधुर स्वर से गाने लगना आदि ऐसी मनोवैज्ञानिक चित्रण-कला है कि मातृ-जगत् का अखिल वात्सल्य साकार हो उठा है। कोई भी माता अपने वात्सल्य की झाँकी उपर्युक्त पद में देख सकती है। अतीत, वर्तमान और भविष्य की माताओं का हृदय इस पद में वात्सल्य के मृणाल-तंतुओं से बाँध दिया गया है। इस प्रकार की रचनाएँ विश्वजनीनता का संदेश वहन करती हैं। वे देश-काल की सीमाओं में नहीं बाँधी जा सकतीं, वे मानवता के मनोवेगों से जुड़ी हैं और मनोराज्य में सदैव ही नवीन हैं। ऐसा ही साहित्य स्थायी

हो सकता है जो हृदय की समस्त भावात्मक संभावनाओं का प्रतीक है। यही अमर साहित्य है, जो युग-संभूत होकर भी समस्त युगों का अधिनायक है।

साहित्य के अंतर्गत न्याय-भावना के विकास में युग-संभूत और चिरंतन साहित्य दोनों ही कार्य करते रहते हैं। किसी युग का साहित्य किसी विशिष्ट कार्य

साहित्य में न्याय-भावना का विकास

या व्यक्ति को जिस दृष्टि से देखता है, क्या उसी दृष्टि से चिरंतन साहित्य उसे देख सकेगा? जो व्यक्ति चिरंतन साहित्य की श्रद्धा का भाजन बन सका है,

क्या वह उसी पूज्य दृष्टि से युग के साहित्य द्वारा देखा गया है? अधिकतर दोनों युगों की दृष्टि में साम्य नहीं रह सका। युग की दृष्टि शताब्दियों की दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकती और किसी भी व्यक्ति के कार्यों की प्रतिक्रिया भविष्य में क्या होगी, इसका अनुमान भी नहीं कर सकती। दूसरी ओर चिरंतन साहित्य जो शताब्दियों के गुण में अनेकानेक युगों की ग्रन्थियाँ देख सकता है और उनमें सन्तुलन उपस्थित कर सकता है, युग की विकार-जनित परिस्थितियों पर युग-विवेक की दृष्टि से ध्यान नहीं दे सकेगा। अतः यह स्पष्ट है कि युग-साहित्य और चिरन्तन-साहित्य में न्याय-भावना का दृष्टिकोण एक-सा न होगा। यह भी संभव है कि एक युग का साहित्य दूसरे युग के साहित्य के विरोध में खड़ा हो जावे।

साहित्य स्वानुभूति और सहानुभूति मूलक है। उसकी गति सदैव जीवन की परिधियों को विस्तृत करने में सहायक रही है। मानवता के विकास में पहले स्थूल जगत् की विशालता ने कार्य किया है। बाद में इसी विशालता ने क्रमशः सूक्ष्म में प्रवेश कर अपनी व्यंजना को स्थूल के विस्तार से भी अधिक विस्तार दे दिया है। प्रति क्षण यह विस्तार मनुष्य की स्वानुभूति में सहानुभूति की प्रतिष्ठा कर अधिकाधिक विकास पाता रहा है। वेदों में स्थूल जगत् की प्रकृति अंतर्व्याप्त है; उस अन्तर्व्याप्ति ने चिन्तन का क्षेत्र ग्रहण कर अपनी विविधता में एकरूपता देखी और उस एकरूपता का संसार स्थूल संसार से बहुत बड़ा हो गया। अतः यह भी कहा जा सकता है कि युग का साहित्य स्थूल पर अधिक आधारित है और संस्कृति का साहित्य सूक्ष्म पर। इस दृष्टि-भेद से किसी वस्तु या परिस्थिति के वास्तविक मूल्यांकन में बहुत बड़ी दूरी हो सकती है। वैदिक साहित्य का प्रमुख देव इन्द्र, पौराणिक साहित्य में सामान्य देवता ही रह गया। वाल्मीकि रामायण के महापुरुष राम अध्यात्म रामायण के परब्रह्म राम हो गए।

इस परिवर्तन में एक प्रवृत्ति निरन्तर कार्य करती रही है। यदि प्राचीन युग का साहित्य विश्वजनीन रूप में लिखा गया है, तो आगामी युगों का साहित्य या

संस्कृति का साहित्य उस प्राचीन युगके साहित्य का समर्थन और प्रसार अधिक मनोवैज्ञानिक रूप से करेगा और उसे हृदय की गहराई तक पहुँचा देगा और यदि प्राचीन युग का साहित्य केवल युग की दृष्टिसे ही लिखा गया है, तो परवर्ती युगों का साहित्य उस प्राचीन युग के साहित्य को यदि आगे बढ़ाना चाहेगा, तो उसके युग-संबंधित विचारों को सहानुभूति की दृष्टिसे देखकर उसे मानवता के कल्याण की दिशा में प्रसारित कर देगा। वस्तुतः परवर्ती युग के साहित्य ने अथवा चिरन्तन साहित्य ने प्राचीन साहित्य को सदैव सहानुभूति के साथ देखा है। जो वस्तु युग के प्रभावों से कलुषित बनी, उस पर संपूर्ण मानवता की सहानुभूति से प्रकाश डाला गया और उसे उदात्त बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया।

उदाहरण के लिए महाभारत का दुष्यन्त शकुंतला के साथ व्यवहार करने में हमारी सहानुभूति का अधिकारी नहीं हो सकता। वह समय और परिस्थिति को देखते हुए न तो शकुन्तला के सम्मान की रक्षा कर सका है, न अपने ही सम्मान की रक्षा, किन्तु महाकवि कालिदास ने दुर्वासा के शाप की कल्पना कर उस दुष्यन्त को संपूर्ण धीरोदात्त नायक के गुणों से अलंकृत कर दिया और वह अपनी शापजन्य विवशता में हमारी सहानुभूति का अधिकारी बन गया।^१ इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में बनवास के अवसर पर लक्ष्मण का क्रोध तुलसीदास ने अपने 'मानस' में समाप्त कर दिया। शताब्दियों से लांछित कैकेयी साकेत महाकाव्य में हमारी दया और सहानुभूति की स्वामिनी बन गई।

यहाँ तक कि शक्रारि मेघनाद भी श्री माइकेल मधुसूदन दत्त की लेखनी से हमारी प्रशंसा और सहानुभूति का पात्र बन गया है।^२ गुप्तकालीन इतिहास के स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य में भी श्री जयशंकर प्रसाद ने नये प्राण फूँक दिए हैं और वह वीरता का कवच धारण करके भी देवसेना के लिए अपने हृदय में एक सुकोमल स्थान सुरक्षित कर लेता है।^३ इसी प्रकार ध्रुवदेवी की क्रान्ति ध्रुवस्वामिनी के रूप में आज भी समाज के समक्ष एक ज्वलंत दृष्टिकोण उपस्थित करती है।^४ प्रेमचन्द की सारंधा ने भारतीय जीवन के महान् आदर्श आज के बुद्धिवादी मंच पर वीर नारी की भाव-भंगिमा में प्रतिष्ठित कर दिये हैं।^५

१ 'अभिज्ञान शाकुंतलम्'—महाकवि कालिदास।

२ मेघनाद-वध—श्री मा० म० दत्त।

३ 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य'—श्री जयशंकर 'प्रसाद'।

४ 'ध्रुव-स्वामिनी'—श्री जयशंकर 'प्रसाद'।

५ 'नव-निधि'—श्री प्रेमचन्द।

निष्कर्ष तो यही निकलता है कि समय के प्रवाह के साथ हममें नैतिकता के प्रति अधिक आस्था होती जाती है। हमारे सामने ऐसे अनेकानेक उदाहरण हो चुके होते हैं, जिनमें हमने अनैतिक मार्ग में जानेवाले व्यक्तियों का अधःपतन होते देखा है। यदि हम अपने भविष्य को अधिक उज्ज्वल बनाना चाहते हैं, तो हमें उन अनैतिक व्यक्तियों के इतिहास से लाभ उठाकर जीवन को अधिक नैतिक बना लेना है। इसी नैतिक भावना में न्याय की भावना भी अधिकाधिक परिष्कृत होती जाती है और उत्तरोत्तर उसका विकास होता चलता है। जिन व्यक्तियों के साथ प्राचीन साहित्य में न्याय नहीं हो सका है, हम उन व्यक्तियों की तत्कालीन परिस्थितियों में अधिक गहराई से प्रवेश करना चाहते हैं और उन मनोवृत्तियों का विश्लेषण करना चाहते हैं, जिनके कारण उन व्यक्तियों के साथ न्याय नहीं हो सका। यदि उन मनोवृत्तियों में हमें कोई ऐसी परिस्थिति मिल जाती है, जिसके आधार पर उस व्यक्ति के प्रति न्याय किया जा सकता है, तो हम तुरन्त उस परिस्थिति की पृष्ठभूमि में न्याय-भावना का अंश जोड़ देते हैं। इस मनोवैज्ञानिक स्थिति में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष होने लगता है और तब मानव के यथार्थ से समझौता करते हुए हम आदर्श की बात भूलने लगते हैं। आदर्श के स्थान पर हम अपनी सहानुभूति रख देते हैं और इस प्रकार हम अपनी नैतिकता की रक्षा भी कर लेते हैं।^१

इस न्याय-भावना के विकास में युगों की अनुभूति भी जुड़ती चलती है, जो अपनी दृष्टि से परिस्थिति का परिष्कार करना चाहती है। वाल्मीकि-रामायण में कैकेयी के कार्य में राजनीतिक दृष्टि, रामचरितमानस में आधिदैविक दृष्टि और साकेत में मनोवैज्ञानिक दृष्टि की प्रधानता हो गई है। वस्तु या परिस्थिति में अपनी-अपनी दृष्टि से युगों ने परिष्कार करना चाहा है।

उर्मिला की विरहानुभूति जो अभी तक साहित्य में अज्ञात थी, श्री मैथिली-शरण गुप्त के 'साकेत' में मुखरित हो उठी है। इस प्रकार कवि ने कथा में संवेदना और सहानुभूति का नया अध्याय जोड़कर व्यक्ति और परिस्थिति के प्रति हमारी सह-कामना प्रेरित की है। यह भी संभव है कि परवर्ती युग की दृष्टि पूर्ववर्ती युग से विरोध प्रकट कर दे। उदाहरण के लिए वाल्मीकि-रामायण में बनवास के अवसर पर लक्ष्मण का जो क्रोध है, उसे मानसकार ने तो शान्त कर दिया, किन्तु साकेतकार ने उसे पुनः प्रकाश में लाकर वस्तुवादी परिस्थिति को तीव्र बना दिया। यहाँ वस्तु-

१ इस संदर्भ में 'साकेत' की कैकेयी और उर्मिला का चरित्र-विश्लेषण महत्वपूर्ण है।

स्थिति की तीव्रता उभारने के लिए कवि ने यथार्थवाद को अधिक महत्त्व दे दिया और जीवन की स्वाभाविकता को ही विधेय माना ।

इस भाँति युग-संभूत साहित्य भी चिरंतन साहित्य का संशोधन करते हुए उसे आगे बढ़ाता है । उसे हमारे जीवन से जोड़ने के लिए उसमें अधिक वास्तविकता का प्रवेश करा देता है और उसके साथ न्याय-भावना भी संबद्ध हो जाती है ।

इस न्याय-भावना का विकास केवल व्यक्ति को लेकर ही नहीं होता, वर्ग और जाति से भी उसका संबंध है । उदाहरण के लिए वैदिक धर्म के विकास में शैव और शाक्त संप्रदाय सदैव ही वैष्णव धर्म के विरोधी समझे गए । वैष्णव भक्तों ने पद-पद पर शाक्तों की निन्दा की । कबीर ने वैष्णव की कुतिया को शाक्त की माँ से श्रेष्ठ समझा, वैष्णव की झोपड़ी को शाक्त के गाँव से अच्छा समझा । शैवों की परंपरा में नाथ-संप्रदायियों ने भी वैष्णवों के कर्मकाण्ड और वर्णाश्रम धर्म को झूठा कहा, किन्तु कबीर के बाद तुलसीदास ने वैष्णवों और शैवों में मैत्री स्थापित करा दी । राम और शिव परस्पर एक दूसरे के स्वामी और भक्त हो गए और सीता ने तो बड़े ही भक्ति-भाव से गिरिजा की स्तुति की । तुलसीदास ने अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण से वैष्णव और शैव धर्म की उपासना में सन्तुलन स्थापित किया और युग की परिस्थितियों में निष्पक्ष दृष्टि रखते हुए प्रत्येक के प्रति न्याय-भावना का विकास किया ।

यह स्पष्ट है कि न्याय-भावना का विकास उत्तरोत्तर होता जायगा । यह न्याय-भावना व्यक्ति और वर्ग से ऊपर उठकर परंपराओं का भी परिष्कार करती है । जीवन और धर्म में अनेक परंपराएँ हैं, जो शताब्दियों से चली आ रही हैं । साहित्य के साथ अनेक लोक-गीत हैं, अनेक लोक-गाथाएँ हैं, अनेक लोक-श्रुतियाँ हैं, जो आज भी श्रद्धा और विश्वास से मानी और समझी जाती हैं । ये लोक-गीत किसी साहित्यसे कम नहीं हैं । इनमें भी हृदय का स्पन्दन है और रागात्मक प्रवृत्तियों का विपुल वैभव । इनकी मान्यताएँ वैसी नहीं हैं, जैसी लिखित साहित्य की, इसलिए इनके भावना-जनित विश्वासों में उतना शीघ्र परिवर्तन नहीं होता, जितना साहित्य के क्षेत्र में हो सकता है । फलस्वरूप इन लोक-गीतों, लोक-गाथाओं और लोक-श्रुतियों से युग अधिक समय तक और अधिक मात्रा में प्रभावित होता रहता है । जन-साहित्य में अलौकिक प्रभाव सदैव ही वर्तमान है । जीवन में जहाँ कोई कठिनाई आ उपस्थित होती है, उसी समय कोई-न-कोई अलौकिक घटना घटित हो जाती है । इन ग्राम-गीतों में शिव और पार्वती तो सदैव ही प्रकट होने को उत्सुक रहते हैं । उनके प्रकट होते ही जीवन व्यवस्थित हो जाता है और दिन फिर जाते हैं । हमारे साहित्य में धर्म की भावना विशेष रूप से कार्य करती रही है । अतः हमारी साहि-

त्यिक और सामाजिक परंपराओं में अलौकिकता और जड़ का मानवीकरण प्राचीन काल से ही होता आया है ।

न्याय-भावना की कसौटी पर यह अलौकिकता या मानवीकरण सदैव ही प्रतीकों का पोषक रहा है । रामायण के दस सिर वाले रावण की आकृति महाभारत में दस हज़ार हाथियों के बल वाले भीम की आकृति में परिवर्तित हो गई । यदि न्याय-भावना का विकास न हुआ होता, तो जिस तरह रावण के कंधों पर दस सिरों का रूप है, उसी भाँति भीम के शरीर से भी दस हज़ार हाथियों की सूँड़ें निकली रहतीं । इससे स्पष्ट है कि रामायण-काल की अलौकिकता महाभारत-काल में नहीं रह गई थी और पात्रों और कार्य-व्यापारों के निरूपण में मानव-दृष्टि अधिक स्वस्थ हो गई थी । ऐसी स्थिति में न्याय-भावना अधिक से अधिक विवेक के आश्रय में पोषित होना चाहती है । लोक-गीतों में नारी और नदी के प्रश्नोत्तर केवल नारी के हृदय में नारी को देखकर उठे हुए मनोभावों की प्रतिक्रिया के रूप में समझे जाने चाहिए, जिन्हें प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी बनाने के लिए मानवीकरण और अभिनयात्मकता प्रदान कर दी गई है ।

इस प्रकार साहित्य में न्याय-भावना का विकास हमारे विवेक और सहानुभूति-पूर्ण जीवन के विकास का द्योतक है ।

साहित्य के स्थायित्व और न्याय-निर्णय के समानान्तर एक नई शक्ति भी कार्य करती जाती है, उसे नवचेतना की संज्ञा दी जा सकती है । साहित्य में जीवन की

साहित्य और नवचेतना अनन्त प्रयोगशीलता संचित है । जीवन के महासागर में विविध परिस्थितियों की जो उच्ताल तरंगें आकाश **आनन्द एवं पौरुष** तक को छू आई हैं, उनकी ध्वनियाँ आज भी सुरक्षित हैं और जब हम साहित्य की नौका पर बैठकर जीवन के महासागर में ग्रमण करते हैं, तो वे ध्वनियाँ हमारे हृदय में एक नव जागरण, एक नई स्फूर्ति का संचार करती हैं । यही तो साहित्य के माध्यम से आनेवाली नवीन चेतना है । यह नवीन चेतना दो रूपों में हमें प्राप्त होती है; पहला रूप 'आनन्द' है और दूसरा 'पौरुष' है ।

जब हमें शैशव की कोई बात याद आ जाती है या कोई पुरानी चिट्ठी मिल जाती है, तब थोड़ी देर के लिए हम अपनी वर्तमान परिस्थितियाँ भूल कर उसी पुरानी बात या चिट्ठी में लीन होकर अपने शैशव को एक बार फिर दुहराने लगते हैं । हमें अपना बाल रूप दिखलाई देता है—हम इस तरह रोये—

ऐसे हैंसे—ऐसे लज्जित हुए और थोड़ी देर के लिए हमारे पुराने आँसू, पुरानी हँसी,

पुरानी बहानेबाजी और वही सब पुरानी खट्टी-मीठी बातें क्रम से आकर हृदयाकाश में इन्द्र धनुष के सप्तरंगों में बिखर जाती हैं। मानव ने अपने विकास के इतिहास को शताब्दियों के पृष्ठों में सँजों रक्खा है और साहित्य के द्वारा वह अपने प्राचीन वैभव की कहानी दुहराता है। इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण में साहित्य जीवन के पुरातन प्रयोगों का एक विचित्र आकर्षण रखता है और यही प्रयोगों की प्रदर्शनी उसके हृदय में आनन्द की अजस्र धारा प्रवाहित कर देती है।

आनन्द के अतिरिक्त दूसरी चेतना पौरुष की है। साहित्य के पिछले प्रयोगों से मानव ने ज्ञान की नवीन दिशाओं में भी प्रवेश किया है। अपने असफल प्रयोगों से उसने जीवन का नया पाठ सीखा है। विपत्ति को दूर करने की युक्ति सोची है और समृद्धि के नवीन क्षेत्रों की पगडंडियाँ भी खोज निकाली हैं। उसने जीवन के क्षेत्र में एक अनुभवी यात्री की भाँति प्रवेश किया है। वह अपनी मंजिलें जानता है और मील के पथरों को पहिचानता है। इस भाँति साहित्य ने मानव को ऐसी संजीवनी प्रदान कर दी है, जिससे जीवन के रोग उसे पीड़ित नहीं कर सकते। वह अनुभवों के रथ पर है और उन समस्त शक्तियों से सम्पन्न है, जिनसे उसे विजय प्राप्त हो सकती है।^१

इसके अतिरिक्त साहित्य ने इस शक्ति का दूसरा रूप भी धारण किया है। साहित्य ने हमें जीवन में एक नवीन दृष्टि प्रदान की है। हम जीवन के प्रसंगों को अधिक तीव्रता के साथ अनुभव करने लगे हैं। हम उनके कोड़ में नवीन भावनाओं के जागरणशील अंकुर देखने लगे हैं, जो सामान्यतः अपने दैनिक अनुभवों में हम नहीं देख सकते थे। हमें अपने व्यक्तित्व में एक नवीन ज्योति के दर्शन होते हैं।

१ सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य धर्म दृढ़ ध्वजा पताका।

बल विवेक दम परहित घोरे। दया कृपा समता रजु जोरे॥

ईस भजन सारथी सुजाना। विरति चर्म संतोष कृपाना।

दान परशु बुधि सक्ति प्रचंडा। वर विज्ञान कठिन कोदण्डा॥

अचल अमल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।

कवच अभेद्य विप्र गुरु पूजा। यहि सम विजय उपाय नदूजा॥

महा अजय संसार रिपु, जीति सकय सो बीर।

जाके अस रथ होई दृढ़, सुनहु सखा मति धीर॥

तुलसी—रामचरित मानस, लंका-काण्ड, दोहा ८०

जो मनोभाव अभी तक प्रसुप्त थे, वे जैसे चौंककर उठ पड़े हों। जो प्रकृति की रूप-राशि हमारे नेत्रों के सामने बिखरी पड़ी थी, जैसे सूत्रबद्ध हो गई हो। जैसे किसी ने कान्ति-जल भरे हुए मोतियों को रेशम के धागे में गूँथ दिया हो।

यह नवीन अनुभवों का संगठन ही तो मानवता की बड़ी शक्ति है! जैसे विपत्तियों के तूफान हृदय से टकराकर लौट गए हों और मानवता की चट्टान अपना मस्तक ऊँचा किए अभी तक अपने सुदृढ़ सौन्दर्य में खड़ी हो। मिलन की निराशा ने जैसे भविष्य के भुवन को खंड-खंड कर दिया हो, किन्तु प्रेम के आशावाद ने प्रत्येक खण्ड को एक स्वतंत्र भुवन बना दिया हो।

इस आशावाद के भीतर एक स्वस्थ संवेदना है। इसमें क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों ही हैं। क्रिया तो इस बात की है कि साहित्य अनुभव के क्षेत्र को विस्तृत करने में प्रतिक्षण सचेष्ट रहता है। वस्तु और काल की सीमाओं के उस पार भी हमारी दृष्टि पहुँचती है और जो संसार पहले इकहरा था, वह दुहरा और तिहरा हो जाता है। हमारी दृष्टि में एक रज-कण भी सौर-जगत् का रूप धारण कर लेता है। भिखारी के फटे कपड़ों के भीतर मानव का चीत्कार सुनाई देने लगता है और रमणी की भू-भंगिमाओं में वसंत का समस्त वैभव हमारे 'शिव' को प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगता है, भले ही 'शिव' अपने ज्ञान के तीसरे नेत्र से उसे उसी क्षण समाप्त कर दे हमारी प्रज्ञा का बाण शताब्दियों को भेदता हुआ हमारी विजय का संदेश विश्वात्म तक पहुँचा सकता है, और तब हमारा व्यक्तित्व हमीं में सीमित नहीं रहता। समस्त विश्व सिमिटकर हमारे व्यक्तित्व में लीन हो जाता है। हम विश्व के प्रति जाग उठते हैं। जो संसार केवल घटनाओं का उलझा हुआ जाल दृष्टिगत होता था, वह हमारे सामने बनारसी कलाबत्तू का श्रेष्ठ नमूना दीखने लगता है। यही जागरण तो जीवन है, और यही अ-जागरण मृत्यु^१। इस जागरण में संसार विस्तृत हो उठता है। यह जो इलाहाबाद स्टेशन का जंक्शन है, केवल रेलवे विभाग के बड़े-बड़े दफ्तरे का केन्द्र नहीं है, और न लोहे की पाँतों का चौड़ा-सकरा जाल। यह तो न जाने कितने यात्रियों के संयोग और वियोग का स्पन्दित क्षेत्र है! इसी स्थान से नववधू की बिदा हुई है और इसी स्थान से एक पुरुष अपनी पत्नी से झगड़कर न जाने कहाँ चला गया है! इसी स्थान से एक नई माता अपनी गोद में सिन्दूर की संपत्ति लेकर

१ The Approach to Literature (Through Literature To Life)
Ernest Raymond, Page 25, Cassel and Company, Ltd
London, 1928.

पति के उत्सुक नेत्रों को शिशु-दर्शन का विराट् वरदान देने गई है और इसी स्थान से वृद्ध पिता की अस्थियाँ लेकर हिचकियों में रोता हुआ अबोध बालक अपने गाँव के चौकीदार के साथ त्रिवेणी जाने के लिए उतरा है। यह जंकशन एक विशाल भावना संसार का प्रतिक्षण नये-नये दृश्य दिखलाने वाला चित्रपट है। और यह लेटर-बाक्स न जाने कितने प्रकार के पत्रों को अपने हृदय में समेटे हुए है ! इनमें न जाने कितने परिवारों के समाचारों का संसार साँसें ले रहा है ! कितने प्रेम-पत्र शकुंतला का हृदय लिए हुए उपालंभों से भरे होंगे और कितने व्यवसायियों के कार्यक्रम मुद्रास्फीत से नष्ट-भ्रष्ट हो रहे होंगे ! दूर दिशाओं में बिखरा हुआ यह स्थूल और सूक्ष्म संसार लेटर-बाक्स के छोटे से घेरे में समाया हुआ है। पदार्थों, परिस्थितियों और व्यक्तियों की गहराई में प्रवेश करने की क्षमता और शक्ति साहित्य अपन में अन्तर्निहित किए हुए है।

तृतीय प्रकरण

साहित्य और राष्ट्र

मानव के हृदय में जो रागात्मक वृत्तियाँ हैं, वे केवल उसी तक सीमित नहीं हैं, वरन् बाह्य जगत् का भी पर्यवेक्षण करने वाली हैं। जिस प्रकार एक अंकुर भू-गर्भ से अपनी प्रेरणा प्राप्त कर पृथ्वी के धरातल तक ही नहीं आता, वरन् आकाश में बढ़ने की गतिशीलता भी प्राप्त करता है, उसी भाँति मानव की प्रवृत्तियाँ उसके 'स्व' में पोषित होती हुई भी सदैव बहिर्मुखी हैं। इस मनोवैज्ञानिक प्रगतिशीलता का सबसे बड़ा परिणाम यह होता है कि मानव अनुकूल या प्रतिकूल व्यक्तियों या पदार्थों को ग्रहण करता है और वर्गों का संगठन करता है। इसी कारण हम बाह्य जगत् में चेतना की अलग-अलग क्यारियाँ बनी हुई देखते हैं। उनमें सहानुभूति या संवेदना का एक सूत्र पिरोया हुआ दृष्टिगत होता है। इसी प्रवृत्ति के कारण ही तो मानव सामाजिक प्राणी बन सका है। वह अपनी प्रवृत्तियों में सीमित नहीं है, वरन् उसकी क्रिया या प्रतिक्रिया में आधार खोजता है। कालान्तर में यह संवेदनशील प्रवृत्ति विकसित होकर बौद्धिक धरातल तक पहुँचती है और परिस्थितियों को साथ लेकर जिस परिष्कृत बिन्दु पर पहुँचती है, उसको 'सम्यता' कहते हैं।

यह सम्यता ही मानवता के उत्कर्ष को ध्यान में रखते हुए निरन्तर प्रगतिशील है। यह प्रगतिशीलता मानव के इस वर्ग के इतिहास और उसके अन्तर्गत क्रान्ति, भूगोल और उसके अन्तर्गत जलवायु, समाज और उसके अन्तर्गत नैतिक मान्यता, समेटे हुए है। इन्हीं उपकरणों की विविधता सम्यता के व्यक्तित्व का निर्धारण करती है, और तब मानव के एक वर्ग की सम्यता दूसरे वर्ग की सम्यता से भिन्न हो जाती है। इस प्रकार यह देखा गया है कि सम्यताओं की अलग अलग दिशाएँ बन गई हैं। उनका विकास अपनी ही दिशा में शताब्दियों के अन्तराल में होता गया है, यद्यपि उनका मूल एक ही मानवीय प्रेरणा में है, जैसे एक वृक्ष की अनेक शाखाएँ अलग अलग दिशाओं में बढ़ गई हैं और उनमें प्रगतिशीलता होते हुए भी दिशा-पार्थक्य है। यह कुतूहलजनक है कि भिन्न दिशागामी होती हुई भी ये

पेड़ की शाखाएँ परस्पर युद्ध नहीं करतीं और बुद्धि-वैभव-सम्पन्न मानव संवेदनशील होते हुए भी सभ्यता की कोटियों में निरन्तर संहार की विनाशक शक्तियाँ लिए हुए हैं। संघर्ष को वह उन्नति का सोपान समझता है। यही कारण है कि पुरातन काल से आज तक कितनी सभ्यताएँ उत्पन्न हुईं और कितनी नष्ट हो गई, किन्तु मानव के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा कभी नष्ट नहीं हुई।

किसी सभ्यता में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा उसे निश्चित विचार-धारा प्रदान करती है और यही विचार-धारा उसकी राष्ट्रीय संपत्ति है, जो ऐतिहासिक परम्परा, विशिष्ट जलवायु एवं सामाजिक तथा धार्मिक मान्यताओं से बनी है। इसे पोषित करने के लिये जन-समूह का जो भी बौद्धिक एवं भावात्मक अभिव्यक्तीकरण होता है, उसी के परिष्कृत समूह का नाम 'राष्ट्रीय-साहित्य' है। इस राष्ट्रीय साहित्य में किसी राष्ट्र-विशेष के उन समस्त लौकिक और अलौकिक विचारों का कोश संचित रहता है, जो शताब्दियों के हाथों से बनता-सँवरता आता है। इसे जातीय साहित्य का नाम भी दिया जाता है, क्योंकि यह उस सभ्यता के वर्ग-विशेष या जाति-विशेष की साधना से सम्पन्न होता है। इसीलिए राष्ट्रीय या जातीय साहित्य में एक विशिष्ट प्रकार की मान्यता बनी रहती है। भाषाओं एवं लिपियों की भिन्नता में जो भौगोलिक कारण होते हैं, जिनसे जातियों में सम्पर्क का अभाव होता चला जाता है, वही कारण सभ्यताओं की अलग-अलग इकाइयाँ होने के पक्ष में भी कहा जा सकता है।

इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि राष्ट्रीय साहित्यों की मान्यताएँ एक दूसरे से प्रभावित भी हों और उनमें न्यूनाधिक अनुपात में साम्य भी हो। इसके प्रमुखतः दो कारण हो सकते हैं:—पहला, 'मानव अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य की अन्तर्व्यापिनी रागात्मक परिधि' तथा दूसरा, 'भूभाग से पृथक् हुए राष्ट्रों का परस्पर सम्पर्क'।

जब मानव की रागात्मक परिधि अपने विस्तार में मानव-मात्र की राग-विराग मयी अभिव्यक्तियों से संपोषित होती है, तो वह मानव-मात्र की संपत्ति होती है और उसमें देश-काल का व्यवधान नगण्य-सा रह जाता है। मानव का प्रेम, उसकी घृणा, उसकी अनुरक्ति या विरक्ति, किसी राष्ट्रीय इकाई की अपेक्षा नहीं रखती। वह सूखे मरुस्थल और तरल जल-राशि के अखण्ड विस्तार को पार कर मानव मात्र में अपना अधिवास बना लेती है। यही कारण है कि शेक्सपियर की 'डेस्ड-मोना', तुलसीदास की 'कैकेयी', सूरदास की 'यशोदा', भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'नील-

देवी' और 'प्रसाद' की 'देवसेना', समस्त भू-भाग के किसी भी खण्ड में अवतरित हो सकती है और अपने स्वभाव की सुकृतियों या विकृतियों से अपनी मानवता का परिचय दे देती है। मानव की अन्तर्चेतना, ऐसे चरित्रों का निर्माण करती है, जो देश और काल की उपेक्षा कर मानव-चरित्र में अंकित हैं।

विज्ञान का विस्तार, जो प्रतिक्षण समस्त भू-मण्डल को विराट् की भाँति कुछ ही पगों में नाप लेना चाहता है, इस मानव की बिखरी हुई जातियों को एक सूत्र में पिरोना चाहता है। मनुष्य के जो वर्ग भौगोलिक विषमताओं से दूर हो गये थे, वे विज्ञान के संकेत से एक ही नगर के नागरिक बन गये हैं और अपने विशिष्ट संस्कारों को भूलकर जीवन की गतिशीलता में परस्पर सहयोग प्रदान करने के लिए अग्रसर हो गये हैं। इस भाँति विज्ञान ने भौतिक जगत् में भले ही आशंकाएँ उत्पन्न की हों, उसने मानसिक जगत् में साहित्य की एकरूपता स्थापित करने में बहुत योग दिया है। इस रूप में विज्ञान ने साहित्य के निर्माण की दिशाएँ निर्धारित कर दी हैं। इनमें मनुष्य भले ही अपनी राष्ट्रीय सीमाओं में अलग कहा जाय, किन्तु उसका चिन्तन विश्व की समस्याओं के समाधान में सामूहिक रूप से हो सकता है। वह एक विस्तृत परिवार का व्यक्ति बनकर उस परिवार की हित-कामना से ही साहित्य-सृजन करने की स्फूर्ति प्राप्त कर सकता है। कुछ समालोचकों ने साहित्य और विज्ञान को विरोधी कहा है, किन्तु मेरी दृष्टि में विज्ञान साहित्य का प्रसाधक है और उसका क्षेत्र व्यक्तिगत या वर्गगत न होकर, राष्ट्रगत या विश्वगत है। जब साहित्य का सृजन मानव-मात्र को लेकर होता है, तो मानव के विविध वर्गों का संयोजन करनेवाले विज्ञान का विरोध साहित्य से किस प्रकार हो सकता है! भले ही विज्ञान भौतिकता में विश्वास करे और साहित्य का क्षेत्र मानसिक या आध्यात्मिक हो, किन्तु साहित्य-सृजन की दिशा में विज्ञान सहायक है, इसमें कोई संदेह नहीं।

इस भाँति जब मनुष्य अपनी प्रगतिशीलता में राष्ट्रों के माध्यम से समष्टि की समस्याओं का समन्वय करता है, तो जिस साहित्य का सृजन होता है, वह अन्तराष्ट्रीय कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्य के निर्माण का यह लक्ष्य रहा है कि वह मानव-मात्र के लिये कल्याणकर हो। उसमें शिवत्व की भावना सर्वोपरि

समाज

हो। इसीलिए महाकाव्य या नाटक में नायक का पद ऐसे प्रख्यात् व्यक्ति को दिया गया है, जो देवता,

अवतार या सद्वंश में उत्पन्न क्षत्रिय हो तथा धीरोदात्त गुणों से युक्त हो। नायक

की उदात्त भावना में वे समस्त गुण हैं, जिनसे मानवता त्राण पा सके और समाज में न्याय का पक्ष समर्थित हो। नाटक के 'भरत वाक्य' में भी जन-कल्याण की भावना प्रमुख रही है। यही कारण है कि शताब्दियों के क्रोड़ में निर्मित होता हुआ साहित्य समाज का पथ-प्रदर्शन करता है और उसके नैतिक धरातल को उठाता हुआ दृष्टिगत होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समाज की व्यवस्था के लिए ही साहित्य का बहुत बड़ा भाग समर्पित हुआ है।

महात्मा बुद्ध ने इसके पर्याय समाज को व्यक्तिगत इकाइयों में बाँटकर नैतिक कर्तव्यों की भावना का पोषण किया। उन्होंने व्यक्तिगत मान्यताओं को दृढ़ करते हुए व्यक्तिगत चरित्र द्वारा समाज को उदात्त बनाया। अन्तर यही था कि प्राचीन भारतीय वैदिक साहित्य जहाँ समष्टि की भावना लेकर समाज के उत्थान में सहायक हुआ, वहाँ बौद्ध साहित्य व्यष्टि को लेकर समाज के पुनर्निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ। इस भाँति समाज को परिष्कृत करना भी साहित्य का ध्येय रहा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज और साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध साहित्य के सृजन से ही आरंभ होता है और यह सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। जहाँ साहित्य समाज की दृष्टि लेकर चलता है, वहाँ समाज भी अपनी प्रवृत्तियाँ साहित्य में प्रति-बिम्बित करता चलता है। इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। फ्रांस के विचारक 'ताइनी' ने भी साहित्य के विकास में जाति, परिस्थितियाँ और युग का 'त्रिक' निर्मित कर साहित्य के विकास का सिद्धान्त निर्धारित किया है। यह सत्य है कि विशिष्ट जाति का विशिष्ट साहित्य होता है, क्योंकि विशिष्ट जाति का विशिष्ट इतिहास है, परम्पराएँ हैं। उसकी मान्यताओं में उसके प्राचीन संस्कार स्पन्दित होते हैं। वे उसके स्वभाव के अंग बनकर सामाजिक आदर्शों का निर्माण करते हैं। ग्रीक साहित्य में शारीरिक सौन्दर्य के प्रति आस्था है। इंग्लैण्ड या फ्रांस के साहित्य में जीवनगत वैभव, विनोद या मनोरंजन के प्रति प्रबल आग्रह है। रूस के साहित्य में सामान्य जीवन के उत्कर्ष का प्रबल अनुरोध है और भारतीय साहित्य में विश्व-कल्याण की प्रमुख संवेदना है, इस वैचित्र्य का कारण जाति-विशेष का मानसिक धरातल ही कहा जा सकता है। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' में दुष्यन्त से तिरस्कृत होने के बाद शकुन्तला मेनका का आश्रय पाकर संसार के संघर्ष से हट जाती है। इसलिए कि आगे की विरह-संतप्त परिस्थितियों में एक ओर दुष्यन्त प्रायश्चित्त की अग्नि में जलकर परिष्कृत हो और दूसरी ओर शकुन्तला

अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करते हुए जननी के पद पर प्रतिष्ठित हो। दोनों का मिलाप वासना के इन्द्रधनुष की छाया में न हो, वरन् अन्तःकरण की आकाश-गंगा में दो नीहारिकाओं की भाँति परस्पर ज्योति का विनिमय करते हुए संभव हो। इस पवित्र निस्पृह मिलाप में ही भारतीय आदर्श की पूर्ति है। पश्चिम का साहित्य 'अभिज्ञान शाकुंतल' नाटक को वही समाप्त कर देता, जहाँ दुष्यन्त ने शकुन्तला को अपने राजकक्ष से निष्कासित किया। इस जीवन की मर्मन्तिक परिस्थिति में ही पश्चिम का साहित्य जीवनगत सत्य की घोषणा करता हुआ समाज को चुनौती देता। इस भाँति यह सत्य है कि जातिगत विशेषताएँ ही साहित्य की प्रकृति का निर्देशन करती हैं।

इसी भाँति परिस्थितियाँ भी साहित्य के विकास में सहायक होती हैं। यदि इंग्लैंड में 'एलिजाबेथ' का शासन न होता, तो संभवतः शेक्सपियर को नाटक लिखने की स्फूर्ति प्राप्त नहीं होती, अथवा जयपुर में यदि मिर्जा राजा जयसिंह शासक न होते तो महाकवि बिहारीलाल 'सतसई' की रचना न करते। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। परिस्थितियाँ प्रेरणा देती हैं और साहित्य निर्मित होता है। चाहे ये परिस्थितियाँ क्रियात्मक रूप में हों अथवा प्रतिक्रियात्मक रूप में। कबीर का साहित्य प्रतिक्रियात्मक रूप से लिखा गया माना जा सकता है।

युग भी साहित्य का सृष्टा है। जातियों के उत्थान और पतन में युग की सृष्टि होती है अथवा सामाजिक और धार्मिक क्रान्तियाँ युग का सूत्रपात करती हैं। हमारे साहित्य के इतिहास में चारण युग, भक्ति युग, श्रृंगार युग और आधुनिक युग का निर्धारण इन्हीं क्रान्तियों से हुआ है, चाहे ये भौतिक रही हों, चाहे मानसिक। इसी भाँति अंग्रेजी साहित्य में रेनेसाँ, (Renaissance) ने साहित्य को विकास का एक नया मोड़ दिया। साहित्य एक अखण्ड प्रवाह है और उसमें मानव-जीवन के असंख्य उद्गार लहरों का रूप लेकर तरंगित होते रहते हैं उसकी दिशाएँ अवश्य बदलती रहती हैं और यही दिशाएँ साहित्य में युगों के नाम से पुकारी जाती हैं।

इस भाँति 'ताइनी' का यह सिद्धान्त न्यूनाधिक मात्रा में विविध राष्ट्रों के साहित्यगत विकास में घटित हो सकता है और यह माना जा सकता है कि जाति युग और परिस्थितियाँ सम्मिलित रूप से समाज के विकास का निर्धारण करती हैं, और समाज के माध्यम से यह 'त्रिक' साहित्य में घटित होता रहता है।

इस सिद्धान्त में दो प्रमुख बातों पर ध्यान नहीं दिया गया —

पहली तो यह है कि मानव-मन की रागात्मक संभावनाएँ जाति, युग और परिस्थितियों में बँधकर नहीं चलतीं और जैसा कि 'अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य' के संदर्भ में कहा गया है कि देशों की सीमा को पार कर मानव-मन एक विशाल समाज स्थापित करता है और उसकी प्रक्रियाएँ उसके मन की संभावनाओं पर ही आधारित रहती हैं। इस भाँति साहित्य जब मानव-परिवार के चित्रण में विकसित होता है, तो जातियों, परिस्थितियों और युग का 'त्रिक्' बहुत पीछे छूट जाता है।

दूसरी बात यह है कि इस सिद्धान्त में समाज के प्रभाव को आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया गया है। समाज के रूप जब बदलते हैं, तो उन परिवर्तनों के पीछे व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग रहते हैं। ये वर्ग फिर किसी

व्यक्ति

व्यक्ति का अनुसरण करते हैं, जो आगे चलकर किसी नये समाज का निर्माण करता है। 'ताइनी' ने व्यक्ति के इस विराट् स्वरूप को संभवतः नहीं देखा, जो साहित्य को अपनी तर्जनी के संकेत से चलने के लिये बाध्य करता है। व्यक्ति की प्रतिभा समाज के अनुशासन में नहीं है क्योंकि यह प्रतिभा व्यक्तिके दृष्टि-विन्दु में सिमटी हुई है। प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टि-विन्दु एक दूसरे से भिन्न होता है। इस प्रकार समाज के अन्तर्गत व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न दृष्टि-विन्दु हो सकते हैं। यदि इन दृष्टि-विन्दुओं में साहित्य-सृजन की क्षमता है, तो उनके द्वारा साहित्य की सहस्रों इकाइयाँ हो सकती हैं, यद्यपि साहित्य-सृजन करने की क्षमता सभी दृष्टि-विन्दुओं में नहीं है। जिन व्यक्तियों की प्रखर दृष्टि साहित्य की रचना करने में समर्थ है, उनसे साहित्य में व्यक्तित्व का निर्धारण अवश्य हो जाता है। उदाहरण के लिए 'राम-साहित्य' ही ले लीजिये। यद्यपि राम की कथा और उसके अन्तर्गत राम का व्यक्तित्व एकही जातिकी आस्थाके परिणाम-स्वरूप विकसित हुआ है, तथापि इस चित्रण में कितनी भिन्नता है! राम की कथा और राम के व्यक्तित्व में कितना संशोधन हुआ है! यह संशोधन साहित्यकार के दृष्टि-विन्दु से ही संभव हो सका है। वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर राम को 'महापुरुष' या योग्य नेता के रूप में चित्रित किया है। अध्यात्म रामायणकार ने उसी राम को 'परब्रह्म' की संज्ञा से विभूषित किया है। तुलसीदास ने राम को लोक-शिक्षा का नायक मानकर 'पुरुषोत्तम' रूप में चित्रित किया है जिससे अवतार-वाद निष्पन्न हुआ। केशव ने वाल्मीकि-रामायण का दृष्टिकोण लेकर रामायण और मानस के दृष्टिकोण में संधि उपस्थित की। मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में राम के व्यक्तित्व में राजनीति का योग देकर उन्हें 'कर्मयोगी' के रूप में

उपस्थित किया। इस भाँति प्रतिभा-सम्पन्न कवियों के दृष्टि-विन्दुओं ने राम के व्यक्तित्व के नाना रूप ग्रहण किए और समाज इन कवियों के व्यक्तित्व में अपना आत्म-समर्पण करता हुआ प्रत्येक कवि के मार्ग पर अग्रसर हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि व्यक्ति समाज की इकाई का निर्माण करते हुए भी समाज से महान् है; क्योंकि वह अपने दृष्टि-विन्दु में इतना व्यापक है कि समाज के अनेक समूह उसमें निवास कर सकते हैं। उसकी गहराई में शताब्दियों की गहराइयाँ समाई हुई हैं। यह सहज ही स्पष्ट हो जाना चाहिये कि गोरख के दृष्टि-विन्दु में समस्त नाथ-साहित्य; कबीर के दृष्टि-विन्दु में समस्त सन्त-साहित्य; सूरदास के दृष्टि-विन्दु में समस्त कृष्ण-साहित्य; तुलसी के दृष्टि-विन्दु में समस्त राम-साहित्य, केशव के दृष्टि-विन्दु में समस्त रीति-साहित्य; भारतेन्दु के दृष्टि-विन्दु में समस्त उन्नीसवीं शताब्दी का खड़ी बोली-साहित्य और मैथिलीशरण गुप्त और 'प्रसाद' के दृष्टि-विन्दुओं में समस्त आधुनिक साहित्य का समाहार देखा जा सकता है। इसलिये साहित्य के मूल्यांकन में व्यक्तित्व का अध्ययन तथा उसकी प्रतिष्ठा सदैव ही समादृत होनी चाहिए।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि साहित्य शताब्दियों के क्रोड़ में पोषित होता है। इस दीर्घ जीवन के लिये यह आवश्यक है कि वह ऐसी उदात्त भावनाओं से प्रेरित हो कि उससे मानव अपने विकास-पथ में

साहित्य और नीति स्फूर्ति प्राप्त कर सके। इसीलिए प्राचीन भारतीय साहित्य सदैव आदर्शवाद के स्वर्ण-प्रदेश में चरित्रों के मूल्य निर्धारित करता रहा। ये आदर्श कहीं-कहीं अव्यावहारिक भले ही हो गए हों, किन्तु इनका निकटतम सम्बन्ध मनुष्य के ऊर्जस्वीकरण की भावना से रक्खा गया। भारतीय साहित्य की प्रत्येक कथा सुखान्त है। इसका संकेत यही है कि जो व्यक्ति हमारी सहानुभूति का पात्र होता है, वह विजयी हो। सहानुभूति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति में सद्गुणों की सृष्टि आवश्यक है और ये सद्गुण ही आगे चलकर आदर्शवाद की स्थापना करते हैं। आदर्श सद्गुणों की समष्टि में बनते हैं और मानव-चरित्र की उदात्त कल्पना किसी भी युग का समर्थन प्राप्त करती है।

मनुष्य के चरित्र की उदात्त कल्पना तीन बातों पर निर्भर रहती है—सद्विचार, नीति और आदर्श। सद्विचार का सम्बन्ध सुरुचि से है, जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है। विधि और निषेध के आधार पर मनुष्य में सद्विचारों की प्रतिष्ठा होती है, जिससे समाज उचित और अनुचित कार्यों को अपने नीर-क्षीर विवेक से समझ सकता है। ये सुविचार ही मानवता के धरातल को सुदृढ़ करते हैं।

इसके अनन्तर सद्बिचारों की समष्टि में नीति का निर्माण होता है। व्यवहार की अनन्त प्रयोगशाला में नीति के सूत्र निर्मित होते हैं और तब वर्षों का अनुभव एक सूत्र में सिमिट आता है। यही सूत्र नीति बनकर ध्रुवतारिका की भाँति दिशा-निर्देश करते हैं और मनुष्य सहज ही अपने कार्यों में व्यावहारिकता के प्राचीन इतिहास से लाभ उठा लेता है। मेरी दृष्टि में नीति की सूक्तियाँ वे स्वर्णकणिकाएँ हैं, जो अनुभव की आँच से विशुद्ध होकर जीवन को समृद्धिशाली बनाती हैं। संस्कृत और हिन्दी साहित्य का बहुत बड़ा भाग इसी नीति के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ है। हितोपदेश से लेकर 'कथासरित्सागर' तक की कथाएँ, हिन्दी साहित्य में कबीर, रहीम, वृन्द, गिरधरराय आदि की रचनाएँ, इसी नीति से प्रेरित हुई हैं। जब इन नीतियों से मनुष्य अपने चरित्र का निर्माण और सुधार कर लेता है, तो वही आदर्श का प्रतीक बन जाता है और सामान्य जनो के लिये प्रेरणा का स्रोत होकर मानवता के उपवन को सींचता रहता है। यह स्पष्ट है कि सद्-व्यवहार अनेक विपत्तियों से विकृत होता है और आदर्श अनेक स्थलों पर अव्यावहारिक हो जाता है। ऐसी स्थिति में नीति, जो व्यवहार और आदर्श की मध्यवर्तिनी होकर देहरी-दीपक की भाँति दोनों दिशाओं में अपना प्रकाश फैलाती है, साहित्य में विशेष महत्व की वस्तु बन जाती है और उससे सम्बन्धित साहित्य सदैव ही मान्य होता है। जीवन के जितने क्षेत्र हैं, उन सभी क्षेत्रों में यह नीति-साहित्य अग्रसर होता है। समाज, वर्ग, व्यक्ति, ग्राम, नगर, देश, राज्य, प्रकृति, पुरुष, स्त्री, बालक, पशु-जगत्—इन सभी को स्पर्श करती हुई नीति जीवनगत अनुभवों को हृदय-स्पर्शी रूपकों और प्रतीकों में प्रस्तुत करती है।

यह संभव हो सकता है कि परिस्थितियों से निरूपित होकर नीति किसी युग-विशेष तक ही सीमित रहे; जाति और वर्ग टूटने पर उनसे सम्बन्धित नीतियाँ आगे मान्य न हों; विज्ञान के प्रसाधनों से विजित प्रकृति अपनी सामान्य प्रभावशीलता व्यक्त न कर सके; जनतन्त्र होने पर नरेशों से सम्बन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियाँ इतिहास की वस्तु बन जायें, किन्तु जहाँ तक निर्दिष्ट कार्य के क्षेत्र का विस्तार है, वहाँ तक नीति तो अपना महत्व रखती ही है। यह भी संभव है कि मानव अपनी प्रगतिशीलता में नीति की व्यापकता का क्षेत्र छोड़ दे, किन्तु यह सत्य है कि नीति का सम्बन्ध मानव-प्रकृति से है। जिस अंश तक यह नीति मानव-मनोविज्ञान के सूत्रों को सम्बद्ध कर अपना रूप निर्धारित करेगी, उसी अंश तक उसकी मान्यता की अवधि बढ़ सकेगी। यों नीति-साहित्य किसी भी व्यक्ति, वर्ग, समाज और देश के जीवन-क्रम को व्यवस्थित करने वाली शक्ति है; और जब तक यह नीति साहित्य

के अन्तर्गत अपना स्थान पावेगी, तब तक इसमें जीवन को व्यवस्थित रखने की क्षमता रहेगी ।

यह भी संभव है कि नीति के अभिव्यक्तीकरण की शैलियों में साहित्य के विकास के साथ परिवर्तन होता रहे । कभी यह नीति आप्त-वाक्य का रूप ग्रहण करती है, कभी सूक्ति के रूप में इसका प्रचार होता है; और कभी कहावतों के रूप में यह प्रचलित हो जाती है । जब इसे साहित्य-सौष्ठव का आश्रय मिलता है, तो यह रूपक और प्रतीकों का आकार ग्रहण करती है । इस भाँति व्यक्त रूप में यह नीति आप्त-वाक्य, सूक्ति, कहावत, रूपक और प्रतीक बनकर समाज में विधि और निषेध का निर्धारण करती है । जब नीति का उपदेशात्मक रूप ग्राह्य नहीं होता, तो यह नीति कथाओं या कहानियों का आश्रय ग्रहण किया करती है । ये कथाएँ कभी लाक्षणिक रूप से और कभी व्यंजनात्मक रूप से, नीति का स्वरूप स्पष्ट करती हैं । हितोपदेश के 'मित्र-लाभ' में और प्रेमचन्द की 'नशा' नामक कहानी में 'मित्र' की परिभाषा है, किन्तु दोनों के अभिव्यक्तीकरण की शैली में अन्तर है । प्राचीन साहित्य में नीति का स्पष्टीकरण अमानवीय जगत् से लेकर मानवीय जगत् तक विस्तृत था । आज के युग में यह नीति मानव मनोविज्ञान में ही सीमित है । उसी की विशिष्ट परिणति में या तो नीति का स्पष्ट रूप मिलता है, या उसकी ओर लक्ष्य किया जाता है । कहीं कहीं आज के साहित्य में भी अमानवीय सम्बन्धों का उल्लेख किया जाता है । उदाहरण के लिए प्रेमचन्द की 'पूँस की रात' नामक कहानी में झबरा (कुत्ता) और 'आत्माराम' कहानी में तोता मानव मनोविज्ञान पर प्रकाश डालते हैं; किन्तु सामान्यतः नीति की प्रेरणा आज के आदर्शोन्मुख साहित्य में धुली-मिली है; उसका साहित्य में अलग स्थान नहीं है । एक बात और भी दृष्टव्य है । नीति का सबसे बड़ा बाधक यथार्थवादी साहित्य है, जो परम्पराओं का बहिष्कार कर जीवन की नई प्रयोगात्मकता में विश्वास रखता है । नीति का सम्बन्ध आदर्श से है और यथार्थवादी साहित्य उस आदर्श की अवहेलना करता है । अतः उसका सम्बन्ध नीति से नहीं है । संभव है, आज का यथार्थवादी साहित्य शताब्दियों के बाद किसी विशिष्ट प्रकार की नीति को जन्म दे सके, किन्तु आज के यथार्थवादी साहित्य में नीति के लिये कोई स्थान नहीं है । प्राचीन साहित्य नीति-सम्मत होने के कारण आज भी जीवन का पथ-प्रदर्शक है । अतः साहित्य में नीति का अंग उसके जीवित रहने का एक अवलम्ब माना जा सकता है ।

चतुर्थ प्रकरण

साहित्य और विज्ञान

जब साहित्य पर उपयोगी दृष्टि से विचार किया जाता है तो विज्ञान भी साहित्य के अन्तर्गत रखा जाता है; किन्तु जब साहित्य पर ललित दृष्टि से विचार किया जाता है, तो वह विज्ञान से दूर हट जाता है। संभवतः इसका कारण यह है कि ललित दृष्टि सौन्दर्य-भावना से परिचालित है और सौन्दर्य भावना तथा कल्पना में विश्राम लेता है। दूसरी ओर, विज्ञान सत्य से अनुप्राणित होता है और उसकी उपासना में तर्क के सिद्धान्तों का सर्वोपरि महत्व है। यद्यपि साहित्य में भी सत्य है, तथापि सौन्दर्य के आवरण में वह सत्य स्थूल न रहकर सूक्ष्म हो जाता है और तब उसकी सीमाएँ भावनाओं और कल्पनाओं में अनन्त विस्तार पाती हैं। विज्ञान स्थूल सत्य में विश्वास रखता है, जो वस्तु-जगत् के विश्लेषण और परिगणन में अपना विस्तार करता है। यदि विज्ञान में एक और एक (१+१) के मिल जाने से वस्तु जगत् में दो (२) की संख्या निर्धारित होती है, तो साहित्य में सौन्दर्य और लालित्य, एक और एक (१+१) को एक ही रूप में देखना चाहता है। उदाहरण के लिए आत्मा और परमात्मा की सत्ता दो होकर भी एक है, अथवा परिणय के सूत्र में आवद्ध पति और पत्नी की स्थिति दो में गिनी जाकर भी एक ही समझी जानी चाहिए।^१

साहित्य की यह दृष्टि कल्पना और अनुभूति के लालित्य का परिणाम है। विज्ञान इस लालित्य में विश्वास नहीं करता क्योंकि उसकी प्रगतिशीलता वस्तु

१ नीरू—अब भी खामोश? अब तुम्हें बाबा गोरखनाथ की क़सम।

अरे, कुछ कहोगी, या सिर्फ कली की तरह मुस्कराती ही रहोगी?

और नीमा, एक बात तो और मज़े की है। दुनिया के हर कार-बार

में एक और एक मिल कर दो होते हैं, लेकिन शादी के मामले

में एक और एक मिलकर एक ही रहते हैं। है न? एक और

एक मिल कर एक!

—भीनी क्षीनी बीनी चदरिया।

जगत् में ही है। अतः यह स्पष्ट है कि साहित्य और विज्ञान अपने आधारभूत उपकरणों में एक दूसरे से भिन्न हैं।

विज्ञान का विकास मूलतः तीन उद्देश्यों में माना जा सकता है। पहला उद्देश्य तो यह है कि वस्तु जगत् में पदार्थों और उनकी प्रकृतियों का जो विस्तार बिखरा हुआ है, उनके सम्बन्ध में ज्ञान की विशिष्ट नियमित शृंखला निर्मित की जाय। वस्तुओं के वर्गीकरण के लिए विश्लेषण की आवश्यकता है, इसलिए विज्ञान विश्लेषण का आश्रय लेकर ही किसी नियम की अवतारणा करता है। दूसरा उद्देश्य यह है कि प्रकृति के ऊपर विजय प्राप्त कर जीवन के सुविधाजनक उपादानों की सृष्टि की जाय और तीसरा उद्देश्य यह है कि सृष्टि में निहित सत्य का अन्वेषण किया जाय।

इन तीनों उद्देश्यों में मनुष्य की प्रेरणा भौतिक जगत् में जीवन की यथार्थ परिणति को अधिकाधिक व्यवस्थित और समुन्नत करने में है, जिससे वह प्रकृति का नियामक बनकर अपने जीवन को सुविधाओं का केन्द्र बना सके। यह सत्य है कि वैज्ञानिक अपनी चरम साधना में दार्शनिक हो सकता है, क्योंकि प्रकृति पर नियंत्रण करते समय वह ऐसे रहस्यों के सम्पर्क में आता है, जो उसके विज्ञान को उलटकर रख देता है और तभी उसे अपने विज्ञान का आधार लौटकर देखना पड़ता है। प्रकृति के अनन्त रहस्य विज्ञान की सीमाओं में बाँधे जा सकते हैं, इसमें सन्देह है। क्योंकि इनका विस्तार शून्य की गहराइयों में है, नक्षत्र-मण्डलों के अनन्त विस्तार में है जहाँ विज्ञान की गति कुंठित हो जाती है, भले ही अणुबम से वह अपने नक्षत्र में विप्लव उत्पन्न कर दे ! विज्ञान अपनी प्रगति में प्रकृति की विकृति करने में ही अधिक समृद्धिशाली हुआ है। विनाश ही उसका वैभव है, क्योंकि मानव स्वार्थों की सेज पर सोना चाहता है; भले ही वह उसे सम्यता का प्रतीक समझे !

दूसरी ओर साहित्य विज्ञान के तीनों उद्देश्यों की सीमाओं का अतिक्रमण कर प्रकृति से सन्धि करना चाहता है, और उसके वैभव में जीवन की उदात्त दृष्टि रखता है। वह वस्तुओं के सुशृंखलित ज्ञान में वस्तुओं को भूल जाता है और उनमें निहित सृष्टि के अन्तः सौन्दर्य को प्रकाश में लाना चाहता है। वह प्रकृति पर विजय प्राप्त नहीं करना चाहता, प्रत्युत् प्रकृति में जीवन का अस्तित्व स्थापित कर जीवन को स्वाभाविक और आनन्दमय बना देना चाहता है। उसकी प्रेरणा विज्ञान की भाँति केवल इन्द्रियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अतीन्द्रियता को भी स्पर्श करती है। उसके इस प्राकृतिक विधान में साधारणीकरण की ऐसी मधुमती भूमिका प्रस्तुत होती है, जिसमें मानव और अमानव जगत् एक हो जाता है और

सृष्टि की सहचारिणी संवेदना उसकी मानवता को आनन्द के केन्द्र-बिन्दु तक पहुँचा देती है। विज्ञान का तीसरा उद्देश्य बुद्धि-वैभव पर आश्रित है, जिसके विस्तार में सत्य का अन्वेषण होता है। साहित्य भी सृष्टिगत सत्य को प्राप्त करना चाहता है और इस दृष्टि से साहित्य और विज्ञान अपने प्रगति के पथ में सहयात्री हैं, किन्तु जहाँ विज्ञान के पास एकमात्र बुद्धि-वैभव है, वहाँ साहित्य बुद्धि की प्रेरणा ग्रहण कर भावना के असीम क्षेत्र में उस सत्य का अन्वेषण ही नहीं करता, वरन् उसे अपना भाग भी बना लेता है। इस प्रकार साहित्य यदि अपने स्वरूप में स्थित है और उसमें मानवता के विकास का अनन्त स्रोत है, तो वह विज्ञान से अधिक जीवन का निर्माता और नियामक है। यह अवश्य सत्य है कि विज्ञान ने संसार की भौगोलिक सीमाओं को धूमिलकर विविध राष्ट्रों को मानव-परिवार के सदस्यों के रूप में उपस्थित कर दिया है और वे अपनी विशिष्ट सीमाओं के संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जीवन के समान उद्देश्यों को प्राप्त करने में अग्रसर हो गये हैं, तथापि इन उद्देश्यों की प्राप्ति में उसने संघर्ष के अवसर भी उपस्थित कर दिये हैं। आज जिन दिशाओं में विज्ञान उन्नति कर रहा है, वे दिशाएँ मानव को जीवन में सहयात्री बनाते हुए भी प्रतिस्पर्द्धा और विद्वेष को प्रश्रय देती हैं।

मेरी कल्पना में संसार के प्रतिस्पर्द्धी राष्ट्र उन दो बालकों की भाँति हैं, जो विज्ञान के भयानक खिलौनों को अपने हाथों में लेकर परस्पर आतंकित और हत-प्रभ करना चाहते हैं कि पहले से दूसरे का खिलौना अच्छा है, यद्यपि वे नहीं जानते कि उन खिलौनों में कितनी भयानकता भरी हुई है! साहित्य एक विवेक-सम्पन्न पिता की भाँति उन दोनों के समीप खड़ा हुआ मुस्करा कर कहना चाहता है—‘बच्चो ! ये खिलौने अच्छे नहीं हैं ! इनसे तुम्हें चोट लगेगी ।’ साहित्य का मानवता के प्रति यह वात्सल्य विज्ञान के पास नहीं है। विज्ञान के प्रति साहित्य का यह नियंत्रण मानवता का पोषक है। विश्व के साहित्य-कारों ने समय समय पर मानवता के संघर्ष की कहानी सदैव “भरत-वाक्य” के साथ कही है। बौद्ध-साहित्य, टाल्सटाय-साहित्य, रवीन्द्र-साहित्य तथा गांधी-साहित्य विज्ञान के दुर्दमनीय ताण्डव के समक्ष नवीन सृष्टि के बीजमंत्र हैं और साहित्य अपनी प्रगति में विज्ञान से सदैव आगे बढ़कर ही अपने महत्व का परिचय देता रहा है। आजका विज्ञान सर्प की भाँति हिंसा और प्रतिशोध की दो जिह्वाएँ लिए हुए है। उसके पास एटम-बम के दंशन का भयानक विष है। विज्ञान की यह प्रवृत्ति मानव की सुखाकांक्षा से अधिकाधिक वस्तुगत होती जा रही है, जबकि साहित्य का संदेश वस्तु में निहित सृष्टि के आनन्द में है। यह भी संभव हो सकता है कि यशो-

लिप्सा से कभी साहित्य वस्तु-जगत् के समानान्तर प्रगतिशील हो, किन्तु यह एक युगीन भंगिमा ही है । साहित्य का वास्तविक धरातल इससे ऊँचा है और ऐसी स्थिति में वह विज्ञान का सदैव ही नियंत्रण करेगा और उसे विनाश के पथपर अग्रसर होने से रोकेगा । विज्ञान यदि प्रतिक्षण 'सुरसा' के मुख की भाँति योजनाओं में विस्तृत होगा, तो साहित्य 'पवनसुत' की भाँति उससे दुगुना रूप धारण कर तथा उसमें प्रवेश करने के उपरान्त बाहर निकलकर उसे अपने बुद्धि और बल से विस्मित कर देगा और अन्त में विज्ञान से अनुमोदित होकर साहित्य विश्व-कल्याण के पथ पर अग्रसर होगा ।

पंचम-प्रकरण

साहित्य की प्रेरणा और सृजन

जीवनगत संघर्ष ही साहित्य का प्रेरणा-स्रोत है। जब परिस्थितियों की प्रतिक्रियाजीवन पर होने लगती है, तभी साहित्य भाषा में रँग भरने लगता है। जिस प्रकार बीज जब तक कागज की पुड़िया में रहता है, तब तक वह फूलता-फलता नहीं, किन्तु किसी उर्वरा भूमि में पड़ते ही जल-वायु का सम्पर्क पाकर उसमें रंग-बिरंगे पुष्प प्रस्फुटित हो जाते हैं। साहित्य भी जीवन की उर्वर भूमि में अनेक प्रकार की रसात्मक अनुभूतियों में विकसित होता है। साहित्य की प्रेरणा व्यक्ति की ऐसी रागात्मक अनुभूति है, जो उसके विशिष्ट अनुभवों से पोषित होते हुए भी समस्त सृष्टि को अपनी परिधि में बाँध लेती है। इस प्रकार साहित्य व्यष्टि से समष्टि में अवतरित होता है और समष्टि का सिद्धान्त व्यष्टि के लिये दिशा-दर्शक हो जाता है। भाव-पक्ष से साहित्य व्यक्ति और समाज का 'युग्म' सदैव संतुलित रखना चाहता है, जिसके अन्तर्गत क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ साहित्य का भविष्य-पथ निर्मित करती चलती हैं। साहित्य के निर्माण में तीन दृष्टियाँ प्रमुख होती हैं। पहली दृष्टि यथार्थ की है, दूसरी दृष्टि यथार्थ पर संघर्ष की प्रतिक्रिया में समस्या-मूलक बन जाती है और तीसरी दृष्टि यथार्थ और समस्या के समाधान में आदर्श की सृष्टि करती है। इस प्रकार यथार्थ, समस्या और आदर्श साहित्य के प्रेरणा-स्रोत बनते हैं तथा व्यक्ति और समाज इन संकेतों पर अपने जीवन की दिशाएँ निर्धारित करते चलते हैं। कभी कभी साहित्यकार एक ही कृति में इन तीनों दृष्टियों में विपर्यय उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिये तुलसीदास के रामचरितमानस का आरंभ आदर्श में हुआ, मध्य समस्या में और अन्त कलियुग-चित्रण के यथार्थ में हुआ। 'प्रसाद' की कामायनी का आरंभ यथार्थ, मध्य समस्यामूलक और अन्त आदर्श-समन्वित हुआ। साहित्य में ये तीनों दृष्टियाँ अलग अलग भी काम करती हैं।

साहित्य की सृष्टि का प्राथमिक रूप सदैव यथार्थ से ही आरंभ होता है, क्योंकि जीवन के प्रथम उन्मेष में चारों ओर बिखरी हुई वन-श्री या पुर-श्री, मानव-कृति

या परिस्थिति ही प्रभावकारिणी बनती हैं। आदि-साहित्य वेद में जो प्रकृति है, वही तो अपने मानवीकरण में देवी-देवताओं का रूप ग्रहण कर सकी है !

इसलिए बाह्य जगत् की मानसिक परिणति ही
यथार्थ साहित्य की आदि पृष्ठभूमि बनती है। यह जगत्
मानवीय अभिलाषाओं की अपेक्षा बहुत छोटा है।

इच्छाओं की इन्द्र-धनुषी मेघ-मालाओं का विहार आकाश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक है; भावनाओं के स्वर्ग, भूमिखण्ड के प्रत्येक कण में अपनी सृष्टि करना चाहते हैं; इन्द्रियों की अप्सराएँ जीवन-पर्यन्त नृत्य करते हुए भी नहीं थकतीं। 'प्रसाद' ने 'इड़ा' सर्ग में लिखा है—

“यौवन मधुवन की कालिन्दी
बह रही चूमकर दिग्-दिगन्त,
मन-शिशु की क्रीड़ा नौकाएँ
बस, दौड़ लगाती हैं अनन्त।”

इस भाँति जो परिस्थिति और प्रकृति जीवन के आसपास बिखरी हुई है, वह अपनी अभिव्यक्ति में भले ही परिपूर्ण हो, किन्तु हृदय की भावना और कल्पना के अनुपात से, इच्छाओं और अभिलाषाओं के सन्तोष की दृष्टि से, अपूर्ण और अपर्याप्त है। परिणाम यह होता है कि जीवन की यथार्थ सृष्टि अभावों से आक्रान्त दीख पड़ती है और यह यथार्थ अपूर्णता और विकृति का प्रतीक बनकर रह जाता है। यह अपूर्णता दो प्रकार से होती है—स्थिति की विषमता और परिणाम की लघुता। स्थिति की विषमता दृष्टिभेद से ही हुआ करती है। जो जगत् ईशावास्योपनिषद् की दृष्टि से विश्वात्मा के अन्तर्भूत अस्तित्व से परिपूर्ण है और नाम रूपात्मक भेद से उसमें विविधता दृष्टिगत होती है, वही जगत् निवृत्तिमार्गी के लिए भ्रम-जाल है; जो नारी 'नर की खान' है, वही दूसरी दृष्टि से 'बड़ा विकार' है। इसी प्रकार संसारी के लिए जो स्वर्ण जीवन के समस्त आकर्षणों का केन्द्र है, वही वीतरागी के लिए लोष्ठवत् है; इसलिए संसार में प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है और किसी भी वस्तु में सम्पूर्णता दृष्टिगत नहीं हो सकती। यदि संसार की किसी भी वस्तु में पूर्णता की प्रतिष्ठा हो सकती है, तो वह केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोण से—'निज प्रभु मय देखीहं जगत्, का सन करीहं विरोध।' तुलसीदास की इस दृष्टि से लौकिक परिस्थिति भी आध्यात्मिकता के आलोक से उद्भासित हो उठती है; किन्तु यथार्थवाद आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रतिफलित नहीं हुआ, उसमें तो भौतिक या वस्तुगत

दृष्टि ही प्रधान है। भौतिक दृष्टि में 'सापेक्षवाद' है और यही सापेक्षवाद विषमता का जनक है।

परिणाम की लघुता, जीवन की आकांक्षा के अनुरूप संतोष के अभाव में ही दृष्टिगत होती है। इसी लघुता में अभाव रक्तबीज की भाँति कण-कण में दीखने लगता है और जितना विशाल अभाव का क्षेत्र होगा, उतना ही लघु जीवनगत संतोष होगा। यह लघु-भाव जीवन की किसी हीन-ग्रन्थि से भी संभव है; वस्तुतः अभावों की विभीषिका ही यथार्थका पर्याय बनकर साहित्य के 'शिवम्' पर प्रश्नचिह्न लगाती है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि यथार्थवाद साहित्य में इसलिए प्रयुक्त होता रहा है कि वह आदर्श को अतिरंजित न होने दे। दूसरे शब्दों में, आदर्श को संतुलित करने के लिए यथार्थ की सृष्टि साहित्य में उपयोगी समझी गई होगी। श्री राम के मर्यादापुरुषोत्तम रूप को निखारने के लिए रावण की यथार्थ-वादिता लौकिक-दृष्टि के साथ फलीभूत हुई है। नाटकों में जो नायक और प्रतिनायक का संघर्ष है, वह आदर्शवाद और यथार्थवाद को लेकर ही है। नायक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा करना चाहता है, प्रतिनायक आदर्शवाद पर आक्षेप करता है और उसे सत्-पथ से विरत करना चाहता है। महाकाव्यों में साधु-पुरुषों के गुण-कीर्तन के साथ-साथ खलों की निन्दा का प्रसंग इसीलिए जोड़ दिया जाता है कि यथार्थवाद की विकृतिथों के मेघ से आच्छन्न आदर्शवाद का कलाधर अपनी प्रगति में सम्पूर्ण कलाओं से मण्डित होकर जीवन के आकाश में सुशोभित हो सके और अपनी अमृतमयी ज्योत्स्ना से संसार के संतप्त धरातल को शीतलता प्रदान कर सके। इसलिए साहित्य के इतिहास में यथार्थवाद को तभी मान्यता मिल सकी होगी, जब कि उसका प्रयोग आदर्शवाद को निखारने के लिए हुआ होगा; यद्यपि कालांतर में यह यथार्थ-वाद व्यक्ति और समाज को चुनौती देता हुआ, अपने आप साहित्य की एक शैली बना, जिससे लौकिक मापदण्डों द्वारा जीवन का मूल्य निर्धारित किया जा सके। आधुनिक काल में यह यथार्थवाद मनोविज्ञान का आश्रय लेकर अपनी स्वतंत्र सत्ता में अक्षुण्ण है; और सत्य का परिधान लेकर, कला की भंगिमा वहन करते हुए साहित्य का एक अलंकार बन गया है। हमारे प्राचीन साहित्याचार्यों ने इसे एक विभाव-मात्र में ग्रहण किया था और तभी 'स्वभावोक्ति' अलंकार में यथार्थ की छटा आ चुकी थी, किन्तु 'वाद' का आश्रय लेकर यह 'यथार्थ' मनोविज्ञान का शासक बन गया। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि यथार्थवाद सदैव जीवन के अभावों का चित्र खींचे। उसके द्वारा जीवन का यथा-तथ्य चित्रण विहित है, जिसमें जीवनगत संतोष की झाँकी भी रह सकती है, परन्तु ऐसी स्थितियाँ यथार्थवाद में बहुत अधिक

नहीं हुआ करतीं, क्योंकि संघर्षों के महाभारत में आशा की अपेक्षा निराशा अधिक है। इसका परिचय मेरी इन दो पंक्तियों में इस प्रकार है—

हर्ष अतिथि सा ही आकर, रुकता है क्षण दो चार,
किन्तु शोक प्रियतम सा बनकर, करता रहता प्यार।

अथवा,

सुख के दिन क्या हैं अनेक ?
वृद्धा के सिर के श्याम केश।

इस प्रकार मनोविज्ञान का आश्रय लेकर भी यथार्थवाद अधिकतर असंतोष और अभाव का ही परिचायक होता है, उसमें परम्परागत आदर्श के लिए विद्रोह और विप्लव है।

जीवन की परिस्थिति का यथार्थ से संघर्ष ही समस्या का रूप धारण करता है। दूसरे शब्दों में, यथार्थ और उसके क्रोड़ में संघर्ष की समष्टि का नाम समस्या है।

नाटक की कार्य-सम्बन्धी परिस्थितियों में पताका या प्राप्याशा, अथवा सन्धियों में गर्भ-सन्धि समस्या का ज्वलन्त उदाहरण है, जिसमें जीवन की प्रगति या तो अनिश्चित हो जाती है या विविध दिशाओं से बहनेवाली वायु के संधातों से पताका के वस्त्र की भाँति क्षण-क्षण में दिशा-परिवर्तन करनेवाली हो जाती है। इसी समस्या में कुतूहलता पोषित होती है, जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के साथ साहित्य की प्रेरणा-शक्ति है। संसार का समस्त कथा-साहित्य समस्या से प्रशासित है। जब तक जीवन में समस्या नहीं आती, तब तक जीवन सक्रिय नहीं होती और सक्रिय जीवन के चित्रण के बिना साहित्य में प्राणों की प्रतिष्ठा नहीं होती। इसलिए समस्या ही साहित्य का निखार है और उसकी निर्मिति एक ओर यथार्थ से इंगित है, दूसरी ओर आदर्श से आकृष्ट है।

समस्या तीन रूपों में जन्म लेती है। पहले रूप में वह बाधक है, दूसरे रूप में वह प्रतिक्रियात्मक है और तीसरी रूप में वह कुण्ठा का रूप धारण करती है। जीवन के सामान्य विकास में जब गतिरोध होता है, तो समस्या का प्रारंभिक रूप सामने खड़ा हो जाता है। उस गतिरोध से मुक्ति पाने के लिए प्रतिक्रिया होती है और यह प्रतिक्रिया जब समाप्त होती है, तब अवसाद या कुण्ठा हृदय के आकाश में रजनी की भाँति आ घिरती है और तभी आशा की एक किरण उसमें प्रवेश कर समस्या का समाधान करती है। 'साकेत' में श्री मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा कैकेयी

का जो चरित्र-चित्रण है, उसमें इस समस्या का रूप अत्यन्त स्पष्टता के साथ मिलता है। घटना की सामान्य प्रगति में राम का राज्याभिषेक महारानी कैकेयी के सामने समस्या का रूप लेकर आता है। मनोविज्ञान के एक वाक्य से—

‘भरत से सुत पर भी सन्देह।

बुलाया तक न उसे जो गेह।”

समस्या की पहली स्थिति ‘वाधक’ रूप से उपस्थित होती है और उसका प्रतीक प्रथम वरदान है, जो राम के राज्याभिषेक का निषेध कर उसके स्थान पर भरत का राज्याभिषेक निर्धारित करता है। इसको स्थिर करने के अभिप्राय से जो प्रतिक्रिया होती है, वह दूसरे वरदान में प्रतिफलित हुई, जिसमें श्रीराम का वनवास हुआ। इस स्थिति पर समस्या जटिलतर हो गयी। वह जटिलतम हो जाती है जब श्री राम प्रसन्नता पूर्वक सीता और लक्ष्मण सहित वन के लिए प्रस्थान करते हैं। इस स्थिति में कैकेयी के हृदय में कुण्ठा उत्पन्न होती है। इसका समाधान तब होता है, जब कैकेयी चित्रकूट में जाकर क्षमा-याचना करती है और श्रीराम से अयोध्या लौटने का आग्रह करती है।

‘यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया।

अपराधिनि में हूँ तात तुम्हारी भैया।’

इसी प्रकार ‘कामायनी’ में जल-प्लावन से बचे हुए मनु के समक्ष जीवन की समस्या है।

जीवन की प्रगति में दिग्दाहों का धूम और झंझा के झटके बाधा उपस्थित करते हैं, जिसमें—

‘पंच भूत का भैरव मिश्रण

शंपाओं के शकल निपात’।

की परिस्थिति उत्पन्न होती है। इस बाधा के संघात से मुक्ति पाने की जो प्रतिक्रिया होती है, वह ‘आशा’ सर्ग के अन्तर्गत पाकयज्ञ की प्रवृत्ति में परिलक्षित हुई है, किन्तु यह परिस्थिति समस्या का समाधान नहीं कर सकती, क्योंकि संवेदनशील मनु का हृदय द्वैत की कामना से अधीर है और संभवतः इसीलिए यह सोचकर कि इस जल-प्लावन में जिस प्रकार हम बचे हैं; क्या आश्चर्य कोई अन्य व्यक्ति भी अपनी जीवन-लीला रचे हुए समीप ही वर्तमान हो ! इसीलिए वे अग्निहोत्र का अवशिष्ट अन्न उस बचे हुए अपरिचित व्यक्ति की तृप्ति के लिए कहीं दूर रख आते हैं। किन्तु इस दुःख के गहन पाठ में यह कार्य करते हुए भी उनकी कुंठा वर्तमान है। इसका समाधान तो तब होता है, जब नयन के इन्द्रजाल के रूप में कुसुम वैभव में लता के समान श्रद्धा,

मनु के जीवनाकाश में चन्द्रिका की भाँति अवतरित होती है। इस भाँति यह समस्या बढ़ते हुए अंधकार की भाँति अपनी परिस्थितियों में जटिल से जटिलतम तक पहुँचती है और तब इसका समाधान होता है। यह समस्या अपने रूप में जितनी ही जटिल होती है, उतना ही अधिक कुतूहल उसमें निवास करता है और किसी भी इतिवृत्त या कथात्मक-साहित्य में कुतूहल की स्थिति जीवन के यथार्थवाद का चित्रण करती हुई उसके समाधान की आकांक्षा रखती है। जहाँ कथा नहीं होती, वहाँ वस्तुस्थिति ही किसी कारण-विशेष से बाधित होती है और समस्या उद्भूत होती है। छान्दोग्य-उपनिषद् में याज्ञवल्क्य के समीप ज्ञानार्जन के हेतु आये हुए सत्यकाम जाबाल के गोत्र की अनभिज्ञता समस्या-मूलक हो जाती है, जिसका समाधान याज्ञवल्क्य द्वारा तत्क्षण ही हो जाता है जिसमें सत्यकाम के पवित्र संस्कारों की प्रतिष्ठा होती है। शेक्सपियर के 'हेमलेट' में 'हेमलेट' की किर्कर्टव्य-विमूढ़ता से समस्या आरंभ होती है, जो उसकी कुंठा तक चली जाती है, इसीलिए हेमलेट के वास्तविक मनोविज्ञान की परीक्षा अंग्रेजी समीक्षकों द्वारा अब तक नहीं हो सकी है। अनेक आलोचकों ने उसे पागल तक कहा, पर उसका अवसाद संभवतः मनु के अवसाद से अधिक था, जिसमें उसकी कुंठा समस्या के समाधान में सदैव ही बाधक रही है। इसी प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' में 'होरी' जीवनभर समस्याओं से आक्रान्त रहा और उसका समाधान उसकी मृत्यु में ही हुआ। समस्या साहित्य का विश्लेषणात्मक अंग है, जिसमें जीवन का प्रत्येक पार्श्व अपनी मौलिक यथार्थता में प्रकट हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि समस्या यथार्थवाद के लिये प्रकाश-स्तंभ का काम करती है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

समस्या का समाधान जब किसी नैतिक धरातल पर होता है और उसके द्वारा जीवन के किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति का लक्ष्य व्यंजित होता है, तब आदर्शवाद का समारंभ होता है। साहित्य अपने आदर्शों के जीवन को संतुलित रखने के लिये सदैव किसी नैतिक दृष्टिकोण का आश्रय लेना चाहता

आदर्श

है। यह साहित्य रूपी विहग परिष्करण और नीति के दो पंखों से जीवन के विस्तीर्ण आकाश में वर्षों की दूरी पार करता है और अपने को सदैव संतुलित रखता है। भारतीय साहित्य में 'प्रेयस्' की अपेक्षा 'श्रेयस्' को सदैव ही जन-जीवन के लिए कल्याणकर माना है और यह 'श्रेयस्' जो सदैव वर्तमान की नींव पर अतीत या भविष्य के प्रासाद निर्मित करता है, वह इसलिए कि मानव सामान्य धरातल से उठकर निम्न भू-भाग पर सम्यक् दृष्टि डाल सके। आदर्श की स्थिति ऊर्जस्वित

जीवन की मान्यता में है। सम्भवतः इसीलिए साहित्य के प्राचीन चरित्र ऐसी दैवी सम्पदा से सम्पन्न चित्रित किये गये हैं, जिनमें एक ओर तो जीवन की व्यावहारिक बुद्धि है, दूसरी ओर जीवन के समस्त आकर्षणों से परे त्याग और विवेक की विशुद्ध बुद्धि है और इनमें इस प्रकार सन्धि उपस्थित की गई कि उसकी प्राप्ति मनुष्य के लिए सम्भव हो सके। आदर्शवाद और यथार्थवाद में यह अन्तर है कि आदर्श की मान्यता स्थिर है और यथार्थ की परिस्थितिबश चंचल है। आदर्श समय की कसौटी पर उतरा हुआ सत्य है, जो युगों की संघर्षशील-प्रवृत्तियों से अक्षुण्ण रहा है। दूसरी ओर, यथार्थ युग-प्रसूत है, जिसकी रेखाएँ बनती और बिगड़ती रहती है। आदर्श अन्तःकरण-प्रेरित है, यथार्थ इन्द्रिय-जनित है; आदर्श सद्गुणों का प्रत्यक्षीकरण है; यथार्थ स्वभाव की प्रतिकृति है। यह संभव हो सकता है कि समस्या की अग्नि में जलकर यथार्थ की धातु आदर्श के स्वर्ण में परिवर्तित हो। उदाहरण के लिए इन्द्रियों के वसंत में पुष्पित होनेवाला गृहस्थ तुलसीदास पत्नी के विरह की समस्या को सुलझाने में जिस आत्म-भर्त्सना की अग्नि में जला, उससे वह भक्तमाल का सुमेरु महाकवि संत-प्रवर तुलसी बन सका और उसका काव्य राम-काव्य का आदर्श बना। क्रूर और हृदयहीन अशोक कलिंग के युद्ध की अग्नि में जलकर देवानांप्रिय प्रियदर्शी अशोक बना। 'प्रसाद' के 'अजातशत्रु' नाटक में छलना, विरुद्धक, शक्तिमती और मागंधी जैसे पात्र जीवन के वस्तुवाद की चित्रशाला के गहरे रंग में रंगे हुए चित्र हैं, किन्तु काल-चक्र की गति ने उनका वह वस्तुवादी रंग धूमिल कर उन्हें सात्विकता के रंग में आदर्श के समीप तक पहुँचा दिया है। आरंभ की मागंधी, मध्य की श्यामा बनकर, अन्त की आम्रपाली बनती है। इस प्रकार प्रकृति की स्वाभाविक प्रगतिशीलता में यथार्थवाद की परिणति यदि प्रतिक्रिया के साथ सम्बद्ध हुई तो आदर्शवाद की स्थिति तक पहुँच जाती है।

यह स्पष्ट है कि आदर्शवाद जीवन के परिष्कार की एक विधेयक परिस्थिति है। यह आदर्शवाद चार स्थितियों के विकास में पूर्ण होता है: नीर-क्षीर विवेक, नैतिकता, औदात्य तथा प्रतीक।

नीरक्षीर विवेक—यह संसार के विश्लेषण तथा वस्तुओं के गुण-दोषों के निर्णय में है। तुलसीदास ने लिखा है:—

जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन करतार।

संत हंस गुण गहर्हि पय, परिहरि वारि विकार।

जब विकारों के परित्याग की प्रवृत्ति उदय होती है, तभी समझना चाहिए कि जीवन की प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर हो चली है। नीर-क्षीर विवेक को यथार्थवाद का

परिष्कार कहा जा सकता है। इस शैली में एक तो वस्तुओं का पर्यवेक्षण और दूसरे गुणों के प्रति आस्था है। यह एक प्रवृत्ति का द्योतक है, अतः साहित्य में इसे 'न्याय' का पद दिया गया है। यह मानसिक प्रक्रिया आदर्श की आदि स्थिति है।

नैतिकता—नीर-क्षीर विवेक का स्थिरीकरण नैतिकता है। इसमें कर्म का कौशल और बुद्धि का वैभव है। इसके द्वारा कुछ मान्यताएँ इस प्रकार स्थिर की जाती हैं, जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुकरणीय सिद्ध होती हैं, चाहे वह राजनीति हो, चाहे समाज-नीति, चाहे अर्थ-नीति, या आचार-नीति हो। जीवन की प्रयोग-शाला में मनुष्य दिग्-भ्रमित न हो, इसलिए नीति का आश्रय आवश्यक हो जाता है। हिन्दी में अनेक नीतिकार कवियों ने विशिष्ट परिस्थितियों में विशिष्ट आचरण को प्रमाण मानकर जो सूक्तियाँ कही हैं, वे जीवन की वास्तविक पहचान के साथ उसके लिए श्लाघ्य समझी गयीं हैं। कवि रहीम ने एक दोहा लिखा है—

‘रहिमन’ निज मन की व्यथा मन ही राखौ गोय।

सुनि अठिलहें लोग सब बाँटि न लहें कोय।

इसमें मनुष्य के कल्याण के लिए स्वयं दुःख सहन करने की प्रवृत्ति लक्षित की गयी है। इस प्रकार के सिद्धान्त स्थायी भी हो सकते हैं और युग-सम्मत भी। युग-सम्मत नीतियों में परिष्कार और परिवर्तन संभव है, किन्तु स्थायी-सिद्धान्त निश्चय ही आदर्श के लिए प्रेरक सिद्ध होते हैं। स्त्रियों के सम्बन्ध में तुलसीदास ने कहा था—

महावृष्टि चलि फूटी कियारी। जिमि स्वतंत्र होइ बिगरे नारी।

जिसका अर्थ था कि समाज के लिए नारी-स्वातंत्र्य अनुचित एवं अहितकर है। यह नीति सोलहवीं शताब्दी में मान्य रही हो; किन्तु बीसवीं शताब्दी में इसकी मान्यता संदिग्ध है। प्रसाद ने 'लज्जा'सर्ग में कहा,

नारी, तुम केवल श्रद्धा हो,

विश्वास रजत नग-पगल में।

पीयूष-स्रोत सी बहा करो,

जीवन के सुन्दर समतल में।

इसमें जीवन के समतल में उन्मुक्त प्रवाहित होने की स्वीकृति कवि ने दे दी है और इस नारी-स्वातंत्र्य के युग में नारी को जीवन की सुविधाएँ प्रदान न करना भयावह है। इस प्रकार यह युगीन-नीति यथार्थवाद की समर्थिका है; किन्तु स्थायी नीति तो आप्त-वाक्य की भाँति है :

‘रहिमन’ पानी राखिये, बिन पानी सब सून !

पानी गये न ऊबरे, मोती, मानुष, चून ।

और यह निश्चित है कि यह स्थायी नीति आदर्शवाद के क्षेत्र में एक सुनिश्चित प्रगति है।

औदात्त्य में नीति से अधिक विस्तार है। वह मुक्त गगन की भाँति व्यापक है और उसमें लघु को विशाल कर देने की अदभुत शक्तिमत्ता है। हमारे महाकाव्यों और नाटकों में यही उदात्त-भावना नायक के लिए आवश्यक गुण समझी गयी है, जिससे समस्त आघातों को सहन करता हुआ भी वह न्याय के पथ पर अग्रसर हो सके और संघर्ष के अंत में विरोधी पक्ष भी उसकी सराहना कर सके। उदात्त-भावना सदैव क्रियाशील है। उसका सौन्दर्य अभावों में भी सन्तुष्ट रहने का है, जिस प्रकार कंटकों के मध्य में भी पाटल की मुसकान कभी फीकी नहीं पड़ती। ‘उच्चैरुदात्तः’ के विधान में हमारी कल्पना सदैव सामान्य से ऊपर उठी हुई है और यह औदात्त्य जब परिस्थितियों या पात्रों में घटित होता है तो उसके प्रति हमारे हृदय में आदर और श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है। यह उदात्त-भावना जीवन की निया-मिका है और आदर्श का रूप-निर्धारण करने में इसका योग सबसे अधिक है।

प्रतीक आदर्श का सबसे अन्तिम रूप है। प्राचीन काल के कुछ चरित्रों के आश्रय से ये प्रतीक सद्गुणों के ध्रुव-नक्षत्र हैं। मर्यादा के प्रतीक राम, कर्मयोग के प्रतीक श्रीकृष्ण, पातिव्रत की सती-सावित्री, त्याग और तितिक्षा के प्रतीक तथागत, राजनीति के प्रतीक चाणक्य, वीरता के प्रतीक राणा प्रताप एवं अहिंसा के प्रतीक बापू, आदर्शवाद की प्रतिष्ठा में चिर-युगीन हैं। इनके नाममात्र से उनके प्रतीकात्मक गुणों की सम्पूर्ण व्यंजना क्षणमात्र में हृदय-पटल पर अंकित हो जाती है। ‘वह सावित्री है अथवा वह चाणक्य है,’ से एक निश्चित आदर्श की चित्रात्मकता मानस-पटल पर अंकित हो जाती है। साहित्य में जो रूपक और प्रतीक निर्धारित हुए हैं, वे इसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से आविर्भूत हुए हैं। यह प्रक्रिया केवल मानव-जगत् में ही नहीं है, वरन् गुणों की चरम अभिव्यक्तियों में अमानव जगत् में भी आदर्श की सीमा तक है। चातक तो अपने अनन्य प्रेम का प्रतीक बनकर तुलसी का परम-प्रिय आधार है।

एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास,

एक राम-धनस्याम हित, चातक तुलसीदास ।

इसी प्रकार अनिमेष दर्शन के लिए चकोर, अभिन्न साहचर्य के लिए मीन, प्राकृतिक नियम-बद्धता के लिए चक्रवाक, आदि भारतीय साहित्य में काव्य की परिपाटी

निर्धारित करने में सहायक हुए हैं, यहाँ तक कि जड़ पदार्थों का प्रयोग भी साहित्य में आदर्शवादिता के लिए प्रतीक रूप सिद्ध हुआ—

जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति की रीति भल ।

अथवा,

जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग ।

चन्दन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग ॥

इस भाँति यह स्पष्ट है कि आदर्शवाद की चरम-परिणति प्रतीकों द्वारा संभव हो सकी है।

भाषा की उत्पत्ति तथा उसके व्यवहार की शताब्दियाँ व्यतीत होने के उपरान्त साहित्य की परम्परा का निर्धारण हुआ होगा। यों तो साहित्य की सृष्टि मानवता

के स्वर्ण प्रभात से ही समझनी चाहिये; जबकि उसकी

साहित्य का सृजन भावना की ऊर्मियों में कल्पनाओं के अनेकानेक

बुदबुद सन्तरण करते हुए बने होंगे और मिटे होंगे।

इनमें संवेदना-किरण से अनेक इन्द्र-धनुषी चित्रों का निर्माण संभव हुआ होगा, किन्तु ये चित्र काल के अनन्त प्रवाह में लीन होकर अपना अस्तित्व नहीं छोड़ सके।

जब मानव जाति ने अपने अनुभव में किन्हीं विशिष्ट प्रवृत्तियों की ऐसी छाया देखी होगी, जिसने उसकी रूचि को परिमार्जित कर अधिक काल तक उसके अनुरंजन की संभावना उपस्थित की होगी, तब उसने श्रुति या स्मृति से उसे सुरक्षित रखने का प्रयास किया होगा। यह श्रुति या स्मृति का साहित्य कालान्तर में श्रव्य अथवा पाठ्य-साहित्य हुआ होगा।

सामान्य रूप से जीवन का रूप दो विभावों से निर्मित होता है—एक तो वह है जो उसके दैनिक क्रिया-कलापों से सम्बन्ध रखता है और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और दूसरा वह है, जो आवश्यकताओं से स्वच्छन्द होकर उसके हृदय में 'सहज' आनन्द की सृष्टि करता है और यह आनन्द उसके मन के उस कोमल धरातल का अभिसिंचन करता है, जिसमें वह भविष्य-जीवन की प्रेरणाओं के अंकुर पल्लवित होते हुए देखता है। यह स्पष्ट है कि मनुष्य-स्वभाव की अनुवृत्ति दूसरे प्रकार के विभावों के प्रति अधिक हुआ करती है; क्योंकि यह उसकी दैनिक आवश्यकताओं के ऊपर अपना अस्तित्व सुरक्षित रखता है। ऐसी दैनिक आवश्यकताएँ, जो उसके हृदय में किसी विशेष स्मृति की बाहिका बन जाती हैं, वे भी उसका अनुरंजन करने में समर्थ हो सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में जीवन की दैनिक शृंखला एवं अनुरंजनकारिणी प्रवृत्तियों में कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा न खींचते हुए साहित्य

का कोष ऐसी संवेदनाओं से संवलित होता चलता है जो उसके किसी मनोभाव को जीवन के किसी विशिष्ट आलोक में प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। इस भाँति साहित्य की एक परिष्कारक अभिधा है, जो साहित्य में सँजोए जानेवाले मनोभावों का संचयन करती है। इसमें मानव, जीवन-क्षितिज से उतरती हुई मधु-यामिनी की भाँति एक विशिष्ट श्री का सम्मोहन प्राप्त करता है।

यह अभिधा सामान्य रूप से दो क्षेत्रों में अपना विभाजन करती है। पहला क्षेत्र विवेक का है और दूसरा क्षेत्र सौन्दर्य-बोध का। विवेक में शास्त्र, व्याख्या एवम् विवेचना का उदय होता है, तथा सौन्दर्य-बोध में काव्य एवम् समस्त कलात्मक अभिव्यक्तियों का समाहार होता है। इसीलिए प्राचीन साहित्य में काव्य और शास्त्र, साहित्य-सृजन के दो वृत्त मान लिए गए हैं, क्योंकि विवेकशील व्यक्तियों द्वारा काव्य-शास्त्र के विनोद से ही समय का सदुपयोग माना गया है। शास्त्र, जहाँ समस्त चिन्तनशील साहित्य का द्योतन करता है, वहाँ काव्य समस्त कलात्मक अभिव्यक्तियों का केन्द्र माना गया है। पश्चिमी साहित्य जीवन की कुछ प्रेरणाएँ ही साहित्य के सृजन के मूल में समझता है—बौद्धिक, भावात्मक, कल्पनात्मक एवम् तुलनात्मक।

जब मनुष्य बाह्य जगत् के संपर्क में आकर इन्द्रजाल की भाँति उलझी, जीवन की अलकों की भाँति जटिल गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करता है, तब उसे बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है और वह अपने विचार-वैभव से ज्ञान की अनेक कोटियाँ निर्धारित करता है, और यही बौद्धिक प्रेरणा है। इस प्रेरणा में तर्क और न्याय जो निश्चित मानवीय मूल्यों से निर्धारित होता है, अन्वेषण के क्षेत्र में ज्ञान के अनेक सोपान निर्मित करता है; और उसमें अनेक विषयों की सृष्टि हो जाती है। जीवन के बिखरे हुए सूत्र किसी ज्ञान-बिन्दु से जुड़कर नये शास्त्र का निर्माण करते हैं, जिसमें मनुष्य अपनी भौतिक या आध्यात्मिक सम्पदा एकत्र कर सके।

बौद्धिक प्रेरणा, जहाँ मस्तिष्क से परिचालित होती है वहाँ भावात्मक-प्रेरणा हृदय से। यह हृदय उन समस्त अनुभूतियों का कोष है, जो जन्म से लेकर मरण तक अनेक स्वसंवेद्य चित्रों को ग्रहण करता है।

भावात्मक प्रेरणा भावना का आधार और विकास तर्क की अवहेलना करता है। जिस प्रकार किसी फूल की परख कसौटी पर नहीं हो सकती, उसी प्रकार भावना का निरूपण तर्क द्वारा संभव नहीं है। फूल का गुण स्व-संवेद्य है। उसी प्रकार भावना भी हृदय की कोमल अनुभूतियों में

शतमुखी होकर फूल की भाँति जीवन की सुगंधि प्रसारित करती है। यह भावना हृदय की सरस्वती है, जिसकी वीणा के स्वरारोहों में कर्कश सत्य भी कौशेय सौन्दर्य बन जाता है। यह भावना, जीवन की ऐसी उषा है, जिसमें लीला के रंग हैं, विलास के बादल हैं, विच्छित्ति के विहंग-स्वर हैं, किलकिंचित् सी कलियाँ हैं, लालित्य की भाँति कुसुमों का लावण्य आदि है। आकाश के अन्तराल में तारों की स्वर्गंगा का निर्माण करनेवाली सौन्दर्य-राशि की भाँति भावना का विस्तार सभी दिशाओं में है। वास्तव में जीवन की संघर्षशीलता से हृदय के कोमल भावों की रक्षा के लिए भावना ही एक आवरण है। 'साकेत' के अष्टम सर्ग में सीता के अंगों का चित्रण करते हुए श्री मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—

“रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती।”

भावना ऐसी ही छवि का आवरण है, जो जीवन को खण्ड-खण्ड होने से बचा लेती है। इसी प्रवृत्ति में सौन्दर्य-बोध की शक्ति है और साहित्य का सबसे बड़ा भाग, जो जीवन में स्फूर्ति संचय करता है, इसी भावना के वसन्त में कुसुमित हुआ है।

यह भावना मनोविज्ञान के उस पार्श्व को स्पर्श करती है, जिसमें उसका रागात्मक सम्बन्ध बाह्य जगत् से स्थापित होता है। सहानुभूति, परदुःख-कातरता, उदारता, स्नेह और प्रेम के अनन्त भाव और अनुभाव प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उससे सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार यह भावना राग का अपरिमित कोष लेकर मानवता की तप्त मरुभूमि पर सहस्र-सहस्र शीतल वारि-बूंदों के रूप में बरस जाती है और मानव-धर्म की अनन्त जल-राशि बनकर सत्य के सागर में लीन होती है।

यह भावना दो भागों में विभाजित की जा सकती है—आत्मस्थ और परस्थ। आत्मस्थ भावना में आत्माभिव्यक्ति का प्रबल वेग है। वह अभिलाषाओं और इच्छाओं में उमड़कर गन्तव्य दिशामें अपने आदर्श भावना की दो कोटियाँ की पूर्ति कर लेती है। भावना का प्रवाह बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा सूरदास की एक गोपी का आत्माभिव्यंजन—

“फूल बिनन नहि जाऊँ सखी री, डोलौं जमुना तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चली री, इन नयनन के नीर॥

इन नयनन के नीर सखी री, सेज भई घरनाऊँ।

चाहति हौं याही पै चढ़ि के श्याम मिलन को जाऊँ॥”

इस प्रकार आत्मस्थ भावना स्वोक्ति या स्वगत-कथन का रूप ग्रहण करती है और हृदय की समस्त अनुभूतियों को लेकर तरल तरंगों में प्रवाहित होती रहती है।

परस्थ भावना वर्णनात्मक है। उसमें जीवन के अनेक चित्रों के रंग अन्य व्यक्तियों की अनुभूतियों से गहरे और हल्के स्पर्श से भरे जाते हैं। विविध दिशाओं से आई हुई ये अनुभूतियाँ मनोविज्ञान में एक प्रदर्शनी की भाँति सुसज्जित हो जाती हैं, और उनमें अनेक वर्ग और भेद हो जाते हैं; किन्तु उन सबों का इष्ट सौन्दर्य-बोध कराना होता है। परस्थ-भावना भले ही आत्मस्थ भावना की भाँति तीव्र और घनीभूत न हो, तथापि उसमें विचित्रता अधिक होती है। यदि आत्मस्थ भावना गहराई लिए हुए है तो परस्थ भावना विस्तार; और दोनों का संयोग जीवन की सम्पूर्ण परिधि को मनोविज्ञान के क्षेत्र में संवेदना के साथ प्रस्तुत कर देती है।

कल्पना साहित्य की सृजन-शक्ति है। जिस प्रकार ब्रह्म, माया के माध्यम से अखिल विश्व की सृष्टि करता है, उसी प्रकार प्रतिभा-सम्पन्न लेखक या कवि कल्पना के सहारे साहित्य में सौन्दर्य की सृष्टि करता

कल्पना

है। इस सृष्टि करने की विशेषता के कारण ही उप-निषद् में ब्रह्म को ‘कवि’ संज्ञा प्रदान की गई है और कवि मनीषी और स्वयंभू संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। वस्तुतः कल्पना ही वह सूत्र है, जिसे धारण कर कवि साहित्य का सूत्रधार बनता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति अपने ज्ञान में इतना संकुचित है और उसकी अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष जगत् में इतनी सीमित हैं कि उसे समष्टि का रूप चित्रित करने के लिये कल्पना का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है और अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के आधार पर वह एक नये जगत् की सृष्टि करता है। इस जगत् की सर्व प्रथम मान्यता इसी बात में है कि वह उतना ही प्रत्यक्ष और सत्य हो, जितना कि व्यक्ति का प्रत्यक्ष जगत् है। अतः यह स्पष्ट है कि कल्पना के लिए जीवन की अधिक से अधिक प्रत्यक्षानुभूति अपेक्षित है। इस अनुभूति के आश्रय से वह ऐसी परिस्थितियों की कल्पना कर सकता है, जो भले ही प्रत्यक्ष जगत् में न हों, किन्तु उनके अस्तित्व में सत्य का वैसा ही आधार हो, जैसा प्रत्यक्ष जगत् में है। इस प्रकार कल्पना और व्यापक सत्य का साहचर्य नितान्त अनिवार्य है। सृष्टि के चित्रों के निर्माण में कल्पना अन्तःसलिला सरस्वती की

भाँति व्याप्त रहती है। कल्पना तब शून्य में निवास करती हुई भी अखिल अस्तित्व को धारण करती है। जिस प्रकार आकाश के अमित विस्तार में असंख्य नक्षत्र परिभ्रमण करते हैं और उनकी पृष्ठभूमि में परिव्याप्त नीलिमा से उनकी प्रभा और भी आकर्षक दीख पड़ती है उसी प्रकार साहित्य के अमित विस्तार में जीवन के आलोक-पूर्ण चित्र कल्पना की अन्तर्व्याप्ति में सौन्दर्यशाली दृष्टिगत होते हैं। कल्पना अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष तथा अनस्तित्व को अस्तित्व में लाने में सबसे बड़ी साधिका है।

कल्पना अपने रूप-निर्धारण में चार प्रकार की कोटियाँ ग्रहण करती है: स्वस्थ, अतिरंजित, मानवीकरण-प्रेरित एवं आवर्श। स्वस्थ कल्पना कारण और कार्य की शृंखला से स्वाभाविकता की सृष्टि करती कल्पना की चार कोटियाँ हैं और जगत् में अन्तर्व्यापी सत्य के समानान्तर प्रवाहित होती है। यह कल्पना-प्रसूत संसार वस्तुतः प्रत्यक्ष संसार का प्रतिरूप ही है, अथवा सत्य का दर्पणगत चित्र है। इसके द्वारा स्वानुभूति की परिधि अत्यन्त विस्तृत होकर संसारगत व्यापारमात्र को समेट लेती है। यह कल्पना कथा-साहित्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। कथा-साहित्य का कल्पना-जगत् अस्तित्व में आकर हमारे जीवन को उतना ही प्रभावित करता है, जितना कि वस्तु जगत्; और उसके द्वारा हमें जीवन की गतिविधि घनीभूत रूप में एक दृष्टि-मात्र में प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की कल्पना में दैवी प्रभावों का कोई स्थान नहीं है क्योंकि उपर्युक्त दैवी-प्रभाव लोकोत्तर होने के कारण, कारण और कार्य की शृंखला से निबद्ध नहीं हैं और इसलिए वे हमारे विश्वास के प्रतीक बनकर भले ही जीवित रहें, वास्तविक जगत् में उनकी संभावना संदिग्ध है। यथार्थवाद इसी स्वस्थ कल्पना के आधार पर निर्मित होता है यद्यपि यह यथार्थ कल्पना-जन्तु यथार्थ है। यह विरोधाभास साहित्य में मान्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष की स्वस्थ कल्पना प्रत्यक्षवत् ही है। स्वस्थ कल्पना में यह उद्देश्य भी निहित है कि उसके द्वारा जीवन के किसी व्यावहारिक सिद्धान्त का पोषण हो सके। यदि कल्पना कारण और कार्य के सम्बन्ध से निर्मित नहीं है, तो वह चाहे जितना मनोरंजन कर दे, विश्वसनीय कदापि नहीं हो सकती और सिद्धान्त की मान्यता के लिए उसका विश्वसनीय होना आवश्यक है। इस प्रकार सत्साहित्य के निर्माण के लिए, व्यक्ति की अनुभूति के क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए, यथार्थवाद का स्वरूप निर्धारण करने के लिए तथा किसी सिद्धान्त की मान्यता के लिए, स्वस्थ कल्पना की उपादेयता में संदेह नहीं है।

अतिरंजित कल्पना प्राचीन-साहित्य की परम्परा है। परियों के देश की कहा-नियाँ, मानव और अमानव जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध, अलौकिक एवं लोकोत्तर घटनाओं की संसृष्टि, तथा काव्य-जगत् की परम्परागत परिपाटियाँ या कवि-प्रसिद्धियाँ, इस अतिरंजित कल्पना के कुछ उदाहरण हैं। परियों के देश की कथाएँ, वस्तुतः स्वप्नलोक और चन्द्रलोक की कुतूहल-वर्द्धक घटनाएँ मात्र हैं, जिनसे समाज का मनोरंजन मात्र हो सकता है। असंभावित परिस्थितियों को प्रत्यक्ष जगत् में अवतरित कराकर उनके द्वारा अधटित कार्यों का सम्पादन केवल बाल-विनोद का विषय ही हो सकता है। विश्व के सभी साहित्यों में इस अनुरंजन-कारिणी प्रवृत्ति का स्थान है, इसके द्वारा जीवन की जिज्ञासा कुतूहल का रूप धारण कर विचित्र कार्य-कलापों में शान्त होती है। इसका रूप अधिकतर दन्त-कथाओं में प्राप्त होता है, जो प्रत्येक परम्परा में अधिकाधिक पुष्ट होकर हमारे समक्ष मनोविनोद का आधार प्रस्तुत करता है।

मानव और अमानव जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध अधिकतर विश्वजनीन सत्य के उद्घाटन के लिए ही कल्पित किए जाते हैं। इनसे एक ओर कुतूहल की सृष्टि होती है और दूसरी ओर किसी उपदेश की विवृत्ति। जीवन के रागात्मक-सम्बन्धों की वास्तविकता एवं उनकी समष्टिगत परिव्याप्ति इसी कल्पना द्वारा सम्भव है। जिस प्रकार माला के एक ही सूत्र में विविध रंगों के पुष्प गुंथ दिये जाते हैं और उनसे उस माला की शोभा कई गुनी बढ़ जाती है, उसी प्रकार एक ही संवेदना के अंतर्गत विविध जीवों की कोटियाँ सम्मिलित कर, रागात्मक भावना अधिक आकर्षक बन जाती है। यह मानव और अमानव का सम्बन्ध हमारी दार्शनिक दृष्टि का प्रतीक है, जिसमें एक ही आत्मा अनेक रूपों में रहकर भी अक्षुण्ण और एक-रस है।

अलौकिक और लोकोत्तर घटनाएँ जीवनगत-विश्वास और श्रद्धा से प्रेरित हैं। संसार की विषम परिस्थितियाँ जब मनुष्य को विवश और असहाय बना देती हैं, तब उसे आशावाद एवं उत्साह की संजीवनी प्रदान करने के लिए लोकोत्तर या अलौकिक परिस्थितियों की कल्पना की जाती है। भक्तों के संकटकाल में स्वयं भगवान का पृथ्वी पर अवतरण इसका ज्वलंत प्रमाण है। यदि डोम की सेवा करते हुए भयानक श्मशान में रानी शैव्या की गोद में मृतक शिशु रोहिताश्व के अधूरे कफ़न में से भी अर्द्ध-भाग माँगते हुए सत्यवीर हरिश्चन्द्र के हाथों को रोकने के लिए भगवान का अवतरण न होता, तो संसार में सत्य की स्थिति कहाँ रह सकती थी ? इस प्रकार की अन्य कथाएँ जो भारतीय साहित्य में द्रौपदी के चीर-हरण, गज-प्राह

के युद्ध आदि के रूप में प्रचलित हैं, वे सब मानव जीवन को निराशा के गर्त से बचाने के लिए ही तो हैं ! इस प्रकार संसार की अति-वस्तुवादिता एवं कष्टों के असह्य परिणामों की विभीषिका को दूर करने की भावना से इन लोकोत्तर प्रसंगों की अवतारणा की गयी है । इनके द्वारा धर्म का व्यावहारिक अंग विश्वासमय हो उठा है और जीवन का निराशावाद आशावाद में परिणत हो गया है । पश्चिमी साहित्य में जो अतिमानवीय या लोकोत्तर प्रसंग उपस्थित किये गये हैं, वे भविष्य-वाणियों तथा सत्य के उद्घाटन के निमित्त ही हुए हैं और जो कार्य मानवीय शक्ति से सम्पन्न नहीं हो सकते, वे इस साधन के द्वारा घटित हो सके हैं । इनमें आतंक और कुतूहल अपनी विचित्र परिस्थितियों में घनीभूत होकर जीवन के प्रेरणा-बिन्दु बन गये हैं और सामान्य परिस्थितियों में जो कार्य नहीं हो सकते थे, वे प्रत्यक्ष कर दिखाये गए हैं । अतः इन लोकोत्तर प्रसंगों से जीवन में शक्ति का संचार हुआ और जीवन को आशा और विश्वास का सम्बल प्राप्त हुआ है ।

काव्यजगत् की परिपाटियाँ या कवि-प्रसिद्धियाँ सामान्य रूप से प्रतीक शैली में व्यवहृत हुई हैं । इन कवि-प्रसिद्धियों में सत्य का अंश कितना है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु इनका प्रयोग साहित्य में इसलिए हुआ है कि वे किन्हीं निश्चित रूपकों या प्रतीकों के आधार पर किसी प्रसंग की उदात्त रूपरेखा अंकित कर सकें । हंस का नीर-क्षीर विवेक भारतीय साहित्य में मान्य है, किन्तु किसी प्रयोग से यह सिद्ध नहीं हो सका कि हंस ने नीर और क्षीर को अलग-अलग कर दिया हो ! इसी प्रकार आज तक किसी ने चकोर को अंगार खाते हुए नहीं देखा; चक्रवाक और चक्रवाकी का वियोग रात्रि के एकांत प्रहरों में कहाँ तक सत्य से समर्थित है ! मुग्धा के पदाघात से अशोक का पुष्पित होना कवि-प्रसिद्धि है, सत्यानुमोदित नहीं । अतिरंजित कल्पनाओं में इनका निर्माण लालित्य के परिवर्द्धनार्थ ही संभव हुआ होगा अथवा कभी एक प्रसंग के आधार पर काकतालीय न्याय की भाँति इसकी सृष्टि हुई होगी । किन्तु समस्त कवि-प्रसिद्धियाँ वास्तविक आधार पर ही निरूपित हैं, यह कहना अत्यन्त कठिन है । भारतीय साहित्य में ही नहीं, अन्य साहित्यों में भी ऐसी मान्यताएँ प्रचलित रही हैं । ग्रीस और रोम की दंत-कथाओं में तथा अंगरेजी साहित्य की परम्पराओं में ये मान्यताएँ साहित्य का शृंगार करती रही हैं । मेडूसा के दर्शन से मनुष्य का पाषाण में परिणत हो जाना, प्रलोभन के लिए निषिद्ध-फल का आस्वादन 'फारबिडेन फ्रूट' के रूप में अथवा किसी विशिष्ट नदी (लीथ) में डूबकर विस्मृति के वशीभूत होना, कवि-मान्यताएँ हैं । इनका प्रयोग कल्पना के अति-

रंजित, स्वरूप से सिद्ध हो सका है और इसके द्वारा ऐसे अनेक प्रसंगों की सृष्टि हुई है, जिनसे साहित्य वैभवशाली समझा गया है।

मानवीकरण—साहित्य में मानवीकरण की प्रेरणा संवेदना के प्रत्यक्षीकरण के लिए होती है। मानव वस्तु-जगत् के विविध रूपों में जब अपनी चेतना का दर्शन करना चाहता है, तो उसकी कल्पना उन वस्तुओं के मानवीकरण की ओर अग्रसर होती है। दूसरे शब्दों में जड़-वस्तुओं पर मानव-चेतना का प्रतिबिम्ब ही मानवीकरण है। वस्तुतः जड़ को चेतन रूप में देखने की प्रवृत्ति ने ही इस शैली को जन्म दिया है। भारतीय-दर्शन में वस्तुजगत् चेतना से ही प्रेरित हुआ है। ईशावास्योपनिषद् में 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यांजगत्' के सूत्र में समस्त जगत् में ब्रह्म की अन्तर्व्याप्ति है और इसलिए संसार की प्रत्येक वस्तु चेतना का बिम्ब ग्रहण करती है। वेदान्त में सत्, चित्, आनन्द जब जीव और जड़ में अपने को अभिव्यक्त करता है तो जीव में सत् और चित् आविर्भूत होते हैं और आनन्द तिरोभूत रहता है। जड़ में सत् आविर्भूत रहता है तथा चित् और आनन्द तिरोभूत रहते हैं। इस भाँति जीव और जड़ ब्रह्म ही हैं, अन्तर केवल गुणों के तिरोभूत रहने का ही है। तिरोभाव का अर्थ किसी गुण का निषेध नहीं है, वह केवल अप्रत्यक्ष-मात्र है। इस प्रकार जड़ में भी चेतना है, यद्यपि वह अप्रत्यक्ष है। ईश्वर के अंश होने के नाते जीव और जड़ सहोदर हैं, और जीव अपनी सहज संवेदना में चेतना की किरण जड़ पर डालकर उसे भी अपने आनन्द का सहयोगी बना लेना चाहता है। कभी-कभी जब मानव अपनी चेतना में संसार के संघर्षों से क्षुब्ध होता है, तब वह जड़ को उसके धरातल से उठाकर अपने दुःख का सहयोगी बना लेना चाहता है। 'सत्' तो दोनों में समान रूप से वर्तमान है। जड़ में तो उसका प्राधान्य ही है, इसीलिए जड़ की विभूति प्रकृति अपने 'सत्' में अधिक वैभव-सम्पन्न है। पृथ्वी का विशेष गुण सुगन्धि उसका मन्त्र है। मानव का 'सत्' संसार की परिस्थितियों से विक्षुब्ध हो उठता है और तब उसे अपने 'सत्' को व्यवस्थित करने के लिए प्रकृति के क्रोड़ में जाने की आवश्यकता होती है, जहाँ उसे असीम शान्ति प्राप्त होती है। इसके प्रतिदान में वह प्रकृति को अपनी चेतना की किरणें प्रदान करता है और प्रकृति भी 'सत्' से चिन्मयी बन जाती है। इस प्रकार भारतीय-दर्शन में मानवीकरण का आध्यात्मिक पक्ष है, जिसमें जीव और प्रकृति मिलकर जीवन में सह्यात्री हो जाते हैं और अपने रूप में सुख-दुःख की प्रतिक्रिया समान रूप से लक्षित करते हुए दृष्टिगत होते हैं। इसी में प्रकृतिगत मानवीकरण की निष्पत्ति होती है।

पश्चिम के साहित्य में मानवीकरण की कल्पना आत्म-परक है, उसमें मनो-विज्ञान के प्रभाव से ऐसी अनेक स्थितियाँ आती हैं, जिनमें भावनागत चित्र की पूर्ति मानवीकरण से संभव होती है। जीवनगत सत्य की समीक्षा प्रकृति को कसौटी मानकर की जाती है, क्योंकि सांसारिक व्यापारों की परिणति प्रकृति पर कम से कम घटित होती है। मनुष्य का या राज्य का उत्थान, सूर्य का उदय, पुष्प का विकास, सुगंधि का प्रसार वैसा ही होगा, जैसा शताब्दियों पूर्व था। ऋतुओं में कोई विपर्यय नहीं होगा। आकाश के विस्तार में कोई कमी न होगी तथा नक्षत्रों का उदय और अस्त अपनी गति में अक्षुण्ण रहेगा। यह मनुष्य ही परिवर्तनों का पुतला है, इसलिए मनुष्य ने सत्य की कसौटी प्राकृतिक व्यापारों में ही देखी है। अपने जीवन की अनेकानेक परिणतियों में मानव ने प्रकृति को ही आधार बनाया है और उसी के नाना रूपों में मानवीकरण का भाव कल्पित हो सका है।

मानवीकरण का उद्देश्य : मानवीकरण मूलतः तीन उद्देश्यों से प्रेरित होता है। पहला विश्व में परिव्याप्त सत्य की निष्ठा, दूसरा अनुभूति-प्रवणता तथा तीसरा चारित्रिक उत्कर्षार्पण।

विश्व में परिव्याप्त सत्य की निष्ठा सामान्य रूप से प्रकृति के मानवीकरण में है, जहाँ उसमें दैवी शक्तियों का समावेश किया जाता है। प्रकृति देवी बनकर मनुष्य के लिए सत्य का निर्देश करती है और अपने अनुपम नित्य और नवीन रूप से जीवन की थकान दूर करती है तथा उसमें नवजीवन की स्फूर्ति प्रेरित करती है :

ओसों का हँसता बालरूप,
यह किसका है छविमय विलास !
बिहगों के कण्ठों में समोद,
यह कौन भर रहा है मिठास !
पुष्पों की रंजित रूप-राशि,
मेरे जीवन के आस पास—
फैली है यह जतलाने को,
है सत्य सत्य यह चिर विकास !

इन पंक्तियों में प्रकृति के पास शक्ति का जो अनन्त स्रोत है, वह एक सुनिश्चित रूप ग्रहण कर जीवन की किरणें विकीर्ण करता है और मानवता के समकक्ष होकर उसके लिए शक्ति का आवरण बनता है। यही कारण है कि जब-जब मनुष्य को अपनी निर्बलता का आभास मिला है, तब-तब उसने प्रकृति का मानवीकरण कर

उससे शक्ति ग्रहण की है। इस भाँति मानवीकरण जीवनगत सत्य का प्रतीक बनकर साहित्य में सजीवता की सृष्टि कर सका है। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि या साहित्यकार ने अपनी कल्पना के आश्रय से अपने जीवन को प्रशस्त करने के लिए एक नवीन मानवता की सृष्टि की और एक नये संसार में जीवन का स्पन्दन उत्पन्न किया। ईश्वर की 'एकोऽहं बहुस्याम' की प्रमुख भावना को अपना आधार बनाकर मानव ने भी 'एकोऽहं बहुस्याम' से अपने अनेक रूप बनाये हैं और जड़ता में भी मानवता की प्रतिष्ठा कर मानवीकरण का रूप उपस्थित किया है।

अनुभूति-प्रवणता वस्तुतः मानवीकरण का सबसे बड़ा क्षेत्र है। मनुष्य संवेदनशील प्राणी है, साथ ही साथ सामाजिक भी। संसार के समस्त कार्य-कलापों में वह अपनी अनुभूतियों को व्यक्त ही नहीं करना चाहता वरन् उसका प्रतिबिम्ब भी बाह्य-जगत् में देखना चाहता है। उसके जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जब उसका हर्ष और विषाद उसके व्यक्तित्व में सीमित नहीं रह पाता, तब वह उसके प्रकाशन के अन्य आधार खोजने लगता है और इसी आधार की प्रतीक-योजना में मानवीकरण संपुष्ट होता है। सहानुभूति की भावना मानव के लिए सुख और संतोष की संदेश-वाहिका है। इस सहानुभूति में मनुष्य परिस्थितियों से संघर्ष लेकर अपने हृदय की समस्त प्रक्रियाओं को व्यक्त कर सकता है।

संसार की परिस्थितियों से जब मनुष्य के हृदय में आवेगों का ज्वार उठता है, तो उसका मानसिक संतुलन अव्यवस्थित हो जाता है। कार्य और कारण के क्रम में परिस्थितियों को न देखकर वह उन आवेगों के अनुरूप कल्पना का एक नवीन साम्राज्य स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य का आवेग ही उद्वेग में परिवर्तित होता है, और उद्वेग प्रलाप में। यह प्रलाप अनेकानेक कल्पनाओं को जन्म देता है और उन कल्पनाओं में जड़ भी चेतन का रूप ग्रहण कर लेता है। जड़ के क्रोड़ में चेतना की प्रतिष्ठा इसलिए होती है कि आवेग में अन्तर्निहित अनुभूति अधिकाधिक व्यापक हो सके और जड़ भी मानव का सहयोगी बन उसकी अनुभूति के प्रकाशन में सहायक हो। 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण का वियोग यशोदा के लिए इतना कष्टकारक था कि कवि ने उनके दुःख का आवेग प्रकृति की अनेक वस्तुओं में बाँटकर जैसे यशोदा का कष्ट कम करना चाहा हो। एक ही दुःख का अनुभव जब अनेक को होता है, तो दुःख बँट जाता है, फिर कृष्ण का वियोग केवल कृष्ण के परिवार की घटना ही नहीं थी, वह समस्त ब्रज-परिवार की घटना थी, इसीलिए कवि ने लिखा है—

मिस कलिन्द-कुमारि-प्रवाह के,
ब्रज-धरा करती अनुताप थी ।

सारी ब्रज-भूमि यमुना के प्रवाह के बहाने आँसुओं की धारा प्रवाहित करने में जननी यशोदा के समकक्ष ही बनी थी । सूर-सागर में मूरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ मानवीकरण की भावना को पुष्ट करती हैं—

लखियत कालिन्दी अति कारी ।

कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई बिरह जरजारी ।
मनु पलिका तै परी धरनि धँसि तरँग तलफ तनु भारी ।
तट बारू उपचार चूर मनु स्वेद प्रवाह पनारी ।
विगलित कच कुस-कास पुलिन मनो पंकज, कज्जल सारी ।
भ्रमर मनो मति भ्रमति चहूँ दिसि, फिरति है अंग दुखारी ।
निसिदिन चकई व्याज बकत मुख किन-मानस अनुहारी ।
'सूरदास' प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी ।

सूरदास ने यमुना को एक विरहणी का रूपक दिया है । कृष्ण के विरह में गोपिकाओं ने अपनी करुणा की समस्त अनुभूति यमुना में प्रक्षिप्त कर दी है और इस भाँति यमुना को भी अपने विरह में सहयोगिनी मानकर श्रीकृष्ण का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है । इस मानवीकरण में 'व्याज' शब्द सहायक होता है और एक सजीव कल्पना से जड़ पर चेतन का आरोप होता है ।

क्रिया की प्रतिक्रिया स्वाभाविक है । दुःख के आवेग में कभी-कभी विपरीत-कल्पना भी हो सकती है और सहानुभूति के स्थान पर उपेक्षा अथवा कष्ट देनेवाली मनोवृत्ति का भी अभिज्ञान प्रतीत होने लगता है । सुख या दुःख का संकोचन जब व्यक्ति में होता है, तो उसे ज्ञात होता है कि उसके चारों ओर की प्रकृति उसका साथ नहीं दे रही है और किसी समय जो वस्तुएँ उसे अच्छी लगती थीं, अब उसे कष्ट-प्रद मालूम देती हैं । तुलसीदास ने राम के वियोग का चित्रण करते हुए सीता के प्रति राम के संदेश में जो बातें कहलाई हैं, वे इस मनोभाव की पुष्टि करती हैं—

कहेउ राम बियोग तव सीता । मो कहूँ सकल भये विपरीता ।
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू । काल निसा सम निसि ससि भानू ।
कुवलय बिपिन कुंत बन सरिसा । बारिद तपत तेल जनु बरिसा ।
जे हित रहे करत तेइ पीरा । उरग स्वास सम त्रिविध समीरा ।

इसी प्रकार सूरदास ने गोपिकाओं के विरह-चित्रण में समस्त भ्रमरगीत को ही मधुकर के व्याज से मानवीकरण के रूप में उपस्थित किया है। ब्रज के अन्तर्गत जिन-जिन वस्तुओं और परिस्थितियों से गोपियों को कष्ट हुआ है, उन-उन वस्तुओं को सूरदास ने जैसे प्रतिक्रियात्मक चेतना के रूप में उपस्थित कर मनोवेगों का सजीव चित्रण किया है। प्रकृति को केन्द्र मानकर उन्होंने वियोग-शृंगार के सभी संचारी-भावों का वर्णन किया है, जिनमें वियोग की एकादश-दशाओं का सहज चित्रण हो गया है।

मधुबन तुम कत रहत हरे।
 विरह वियोग नंद-नंदन के ठाड़े क्यों न जरे।
 मोहन बेनु बजावत द्रुम-तर साखा टेकि खरे।
 मोहे थावर अरु जड़-जंगम, मुनिगन ध्यान टरे।
 वह चितवनतू मन न धरत है, फिरि फिरि पुहुप धरे।
 'सूरदास' प्रभु विरह दवानल नख सिख लौं पसरे।

उपर्युक्त चित्रण में गोपियों की समस्त प्रतीकारात्मक भावना जैसे प्रकृति के रोम रोम में निवास कर चुकी है और प्रकृति अपने समस्त कार्य-व्यापारों में प्रतिहिंसा के भावों से भयानक हो उठी है। यमुना की तरंगें, कदम्ब वृक्ष, भाँति-भाँति के पुष्प, वायु की लहरें—ये सभी श्रीकृष्ण की स्मृतियों की सहचारिणी वृत्तियों से जीवित होकर गोपिकाओं के हृदय में मधुर वेदनाओं की सृष्टि करती हैं। शरद्-चन्द्रिका, जिसमें गोपियों ने कृष्ण के साथ रास किया था, नागिन की भाँति ज्ञात होती है, जो डसकर उलट जाती है। इस भाँति यह प्रत्यक्ष है कि भावनाओं की तीव्रता एवं स्मृतियों का प्रत्यक्षीकरण मानवीकरण का अग्रदूत है।

इस मानवीकरण में जो प्रतिकूल क्रियाशीलता है, उसमें विरह का सबसे बड़ा हाथ है। यह विरह सामान्य वियोग से चलकर भगवद्-विषयक-रति तक पहुँचता है; और इसमें वेदना पीड़ा बनकर स्मृति में उभर आती है। संभवतः इसीलिए श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने अपने 'आँसू' नामक काव्य का परिचय देते हुए लिखा था—

जो घनीभूत पीड़ा थी
 मस्तक में स्मृति सी छाई।
 दुर्दिन में आँसू बन कर
 वह आज बरसने आई।

इस स्मृति का उभार जिन अनेक चित्रों में प्रस्फुटित होता है, उन्हीं में प्रकृति चेतना का आवरण लेकर स्पष्ट हो जाती है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि भावनाओं का उद्वेलन संयोग की अपेक्षा वियोग में अधिक होता है। इसीलिये उसमें सबसे अधिक संचारी भावों का संचरण है। इन संचारी भावों से हृदय का विषाद नई नई परिस्थितियों में प्रकट होता है, जिनमें वियोग की एकादश दशाएँ हैं। अतः 'रति' की कामना करते हुए जो दारुण संघर्ष हृदय को सहन करने पड़ते हैं, वे संसार की प्रत्येक वस्तु में विषमता का आरोप करते हैं। उषा की सहज सुषमा भी गोपियों को कष्ट-प्रद ज्ञात होती है, तभी तो 'प्रिय-प्रवास' के कवि ने लिखा है—

क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है
बह रुधिर रहा है कौनसी कामिनी का,
अब नभ उगलेगा आग का एक गोला,
सकल ब्रज धरा को फूँक देगा जलाता ॥

जीवन की यह मार्मिक परिस्थिति सौन्दर्य में भी असौन्दर्य का आरोप करती है और प्रकृति का सहज सुन्दर रूप भी भयानक दृष्टिगत होने लगता है। इस प्रकार अनुभूति-प्रवणता अनुकूल और प्रतिकूल दोनों रूपों में कल्पना से संयोजित होकर मानवीकरण का रूप ग्रहण करती है।

जब प्रकृति इस भाँति सजीव होकर मानव-जीवन के समानान्तर संवेदना-सम्पन्न हो उठती है तो पश्चिम का साहित्य इसे एक दोष मानता है। 'रस्किन' ने इस दोष को 'पैथेटिक फ़ैलेसी' (Pathetic-fallacy) के नाम से अभिहित किया है। इसे 'करुणाजनक' दोष माना गया है। दोष इसलिये कि प्रकृति स्वयं करुण नहीं है। यह हमारा दृष्टिकोण है कि हम अपने आत्मगत विषाद में अपनी करुणा प्रकृति पर प्रक्षेपित करते हैं। आकाश का नीहार पृथ्वी पर ओस बिन्दुओं का रूप ग्रहण करता है। उसमें अश्रु-बिन्दु की कल्पना हमारी व्यक्तिगत विषादोन्मुखी प्रवृत्ति है। प्रकृति तो मानवीय राग-विराग से विहीन है। उसकी यह मानवीय कल्पना वास्तविकता के प्रतिकूल है और इसीलिए यह दोष है। इसके प्रतिकूल दो सिद्धान्त रखे जा सकते हैं—प्रथम यह कि साहित्य की उद्भावनाएँ व्यक्तिगत दृष्टिकोणों से ही रूप ग्रहण करती हैं, भले ही वे आगे चलकर समष्टि का प्रतिनिधित्व करने लगे। व्यक्ति जब अपने दृष्टिकोण में साधारणीकरण को स्थान देता है तो उसकी कल्पनाएँ समस्त चेतन और अचेतन जगत् को अपनी परिधि में घेर लेती हैं। यदि कवि या लेखक

बाह्य जगत् का यथातथ्य चित्रण कर दे और उसका रागात्मक सम्बन्ध जीवन से स्थापित न करे, तो उससे प्रेरित साहित्य कहाँ तक मानव-जीवन को सन्तुष्ट कर सकेगा ! दूसरा सिद्धान्त यह कि यदि प्रकृति को चेतना-जगत् में अवतरित किया गया है, तो उसका प्रयोग केवल करुणा में ही क्यों दोष समझा जाय, उल्लास या प्रसन्नता में क्यों नहीं ? 'पैथेटिक फ़ैलेसी' नाम देकर उसे एकांगी रूप में ही सीमित करना उचित नहीं है। वस्तुतः इसका नाम 'पैथेटिक फ़ैलेसी' के स्थान पर 'सिम्पैथेटिक फ़ैलेसी' (Sympathetic fallacy) होना चाहिये, जिससे सुख-दुःख दोनों ही मनोभावों में प्रकृति का मानवीकरण अनुचित सिद्ध हो सके। किन्तु जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, मानव और प्रकृति का सम्बन्ध अनन्तकाल से अविच्छिन्न है और अपने आत्माभिव्यंजन में मनुष्य ने सदैव ही प्रकृति का आश्रय ग्रहण किया है। प्रकृति के मानवीकरण ने मनुष्य को सुख दुःख में अनन्त बल प्रदान किया है और इस संदर्भ में मानवीकरण की कल्पना रचनात्मक ही समझी जानी चाहिए। यह कल्पना मानवता को उसी प्रकार अपने समीप बुलाती रहेगी, जिस प्रकार 'कण्व' के आश्रम में केसर का वृक्ष पवन के झोंको से हिलती हुई पत्तियों की उँगलियों में शकुन्तला को बुला रहा था।'

चारित्रिक उत्कर्षापकर्ष—समाज की विविध परिस्थितियों में जब मनुष्य अपना विकास करने लगता है, तब उसे नीति की आवश्यकता पद-पद पर ज्ञात होने लगती है। इस नीति का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से उसके आचार से है। यह आचार एक तो आन्तरिक होता है, जिसका सम्बन्ध उसके चिन्तन से है और दूसरा बाह्य है, जिसका सम्बन्ध उसके व्यवहार से है। चिन्तन और व्यवहार दोनों ही मिलकर उसके चरित्र का निर्माण करते हैं और इस चरित्र पर समाज के कल्याण की भावना निर्भर है। जब चरित्र में कोई विरूपता आने लगती है, तब उसके परिष्कार के लिए विधि और निषेध की मान्यताएँ उपस्थित की जाती हैं, स्वयं आचार के विविध अंगों का मानवीकरण करने की कल्पना होती है। और तब 'प्रबोध-चन्द्रोदय' जैसे ग्रंथों की रचना होती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'भारत दुर्दशा' नामक नाट्य-रासक में निर्लज्जता, आशा, भारत-दुर्दैव, सत्यानाश फ़ौजदार, रोग, आलस्य, मदिरा, अन्धकार का मानवीकरण हुआ है। अन्त में भारत-भाग्य भारत का मुख चूमकर अपनी छाती में कटार भोंककर आत्म-घात करता हुआ दृष्टि-

१ एसो वादेरिद पल्लवांगुलीहि तुवरेदि विअमं केसर रुक्खओ।

अभिज्ञानशाकुंतलम्। प्रथमोऽङ्कः

गत होता है। इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हमारे देश के समस्त दुर्गुणों के मानवीकरण द्वारा हमारे सामने हमारी दुरवस्था का प्रत्यक्ष चित्रण किया है। यह कार्य साधारण रूप से विधि-निषेध द्वारा संभव नहीं हो सकता था। इस मानवीकरण ने अमूर्त को मूर्त कर एक नई सृष्टि की रचना कर दी है, जो हमारे जीवन के क़ोड़ में निवास कर रही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के इस नाट्यरासक के दृष्टिकोण की पूर्ति 'प्रसाद' ने अपने 'कामना' नाटक में की है; जिसमें हृदयस्थित प्रवृत्तियों का मानवीकरण कर एक रूपकात्मक नाटक की सृष्टि हो सकी है। कामना, विलास, विवेक, संतोष, करुणा और लीला आदि प्रतीकों में मानव-जीवन की समस्त प्राकृतिक एवं रहस्यात्मक विचार-धाराओं को स्पष्ट रूप दिया गया है। 'भारतेन्दु' एवं 'प्रसाद' के नाटकों में अंतर्जगत् का संघर्ष अधिक स्पष्ट हुआ है। श्री सुमित्रानन्दन पंत ने 'ज्योत्स्ना' नामक प्रतीक-नाटक लिखकर बाह्य जगत् के कार्य-व्यापारों का प्रकृति के अंगों एवं अमानव प्राणियों का मानवीकरण कर एक स्वस्थ समाज की सृष्टि करने की कल्पना की है। इस प्रकार का मानवीकरण पश्चिमी साहित्य में 'मेटारलिक' के 'ब्ल्यू बर्ड', में भी हुआ है। पश्चिम के ये नाटक विशेष रूप से 'मिरेकिल' और 'मोरेलिटी' नाटकों की परम्परा में हैं, जो सत् और असत् के संघर्ष से आगे बढ़कर प्रतीकों में परिवर्तित हो गये हैं। भारतीय साहित्य में यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। 'शतपथ ब्राह्मण' में ही जीवन के विकास की कथा मनु, श्रद्धा और इडा के प्रतीकों द्वारा उपस्थित की गई है; जिसमें मन, अन्तःकरण और व्यवसायिका बुद्धि का मानवीकरण हुआ है। इसी के आधार पर जयशंकर 'प्रसाद' ने कामायनी महाकाव्य की सृष्टि की। मेरा सर्व प्रथम एकांकी 'बादल की मृत्यु' इसी प्रतीकात्मक मानवीकरण का उदाहरण है, जिसमें संध्या, बादल और वायु के मानवीकरण द्वारा जीवन में लालसा एवं स्वार्थ का रंगीन चित्र उपस्थित किया गया है। इस प्रकार मानव-चरित्र के विविध पार्श्वों पर प्रकाश डालने के लिये विविध प्रतीकों की सृष्टि हुई और उन प्रतीकों के मानवीकरण में अंतर्जगत् और बाह्यजगत् दोनों के विशद विश्लेषण की सुविधा प्राप्त हो सकी।

दार्शनिक जगत् में भी जीवनगत विविध प्रवृत्तियों को रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से मानवीकरण की सुविधा प्राप्त हुई। सन्त कबीर ने माया को 'डाइन' का रूप दिया है। उनका एक पद है—

इक डाइनि मेरे मन में बसे रे,
नित उठि मेरे जीय को उसे रे।

ता डाइनि के लरिका पाँच रे,
 निसि दिन मोहि नचावें नाच रे
 कहैं कबीर हूँ ताकौ वास,
 डाइनि के संग रहैं उदास।

यह मानवीकरण वस्तु-स्थिति को स्पष्ट करने के अभिप्राय से ही हुआ है। अमूर्त जगत् यदि चेतना-संवलित होकर इस भाँति मूर्त न हुआ होता तो विषय की भाव-तीव्रता हमें स्पर्श कर सकती, इसमें सन्देह है। माया को 'डाइनी' कहकर पाँचों इन्द्रियों को उसका पुत्र कहना भाव-जगत् में जितना सत्य है, उतना ही वस्तु-जगत् में भी। दोनों का यह अपार्थक्य ही मानवीकरण को शक्ति प्रदान करता है। इस भाँति यह देखा जा सकता है कि नीति का उपदेश-मात्र हमें रुचिकर नहीं होता। रूपक और प्रतीकों से उसका जो मानवीकरण होता है, वह हमें अधिक आकर्षक ज्ञात होता है, क्योंकि मानवीकरण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हमारी रागात्मक वृत्तियों से हो जाता है। हमारे चरित्र के उत्थान और पतन में शिवत्व की भावना स्थापित करने में यह मानवीकरण विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुआ है।

आदर्श—साहित्य की सृष्टि सदैव लोक-कल्याणार्थ है। लोक का कल्याण तभी संभव हो सकता है, जब उसकी विचार-धारा ऐसी मान्यताओं से संवलित हो जो युगों के परिवर्तित होनेवाले मनोविकारों से अक्षुण्ण रह सकें। ये मान्यताएँ ऐसे उदात्त जीवन के चित्रों से निर्मित होनी चाहिये जो लोक-जीवन के विकास में प्रेरणा दे सके। इन्हीं प्रेरणाओं में कल्पना आदर्श का रूप निर्धारित करती है। भारतीय साहित्य की अनेकानेक पौराणिक कथाएँ ऐसे उदात्त चरित्रों को व्यक्त करती हैं, जो संसार की विषम परिस्थितियों में भी अपने सात्विक आचरणों से च्युत नहीं होते। शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, राम आदि ऐसे ही चरित्र हैं, जिन्होंने त्याग एवं साहस के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। ये चरित्र भारतीय समाज को सदैव प्रेरणा देते रहे हैं और इनका अनुकरण कर समाज के अन्तर्गत अनेक व्यक्तियों ने महान् आदर्श स्थापित किए हैं। हमारे इतिहास में भी चरित्र-निष्ठा के ज्वलन्त उदाहरण मिलते हैं—महात्मा बुद्ध, विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त 'पराक्रमांक', चन्द्रगुप्त स्कन्दगुप्त, हर्षवर्धन, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, महाराज छत्रसाल आदि कर्मठ एवं सत्यनिष्ठ वीरों ने जीवन के उदात्त मनोभावों को सदैव अपने समक्ष रखा है। इसी प्रकार सती अनसूया, सती सीता, सती सावित्री भारतीय साहित्य में ऐसे आदर्श चरित्र माने गये हैं, जिनसे शताब्दियों के नैतिक दृष्टिकोण को बल प्राप्त हुआ है। उन्हीं के अनुकरण पर हमारे इतिहास में सती पद्मिनी, महारानी

लक्ष्मीबाई, वीरांगना दुर्गावती तथा राजस्थान में जौहर की ज्वाला में अपने सत्याचरण की रक्षा के लिए जीवन का होम करनेवाली अनेकानेक नारियाँ रही हैं। सत्य के इस ज्वलन्त रूप की प्रतिद्वन्द्विता करने में कल्पना भी आदर्श की प्रतिष्ठा करती रही है और साहित्य में हमें ऐसे अनेकानेक चित्र देखने को मिलते हैं, जो अपने चरित्र की उदात्त भावनाओं से अपने चारों ओर दिव्य आलोक प्रसारित करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'नीलदेवी' कल्पना-प्रसूत है, किन्तु उसने अपने आदर्श की रक्षा के लिये, जो प्राणोत्सर्ग किया है, वह किसी भी वास्तविक सती के त्याग से कम नहीं। इसी प्रकार श्री प्रेमचन्द के 'गोदान' में 'होरी' जीवन की समस्त वास्तविकता लिए हुए अपनी नैतिक मान्यताओं पर मर-मिटने वाला व्यक्ति कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्य में कल्याण-विधायक नीति के साथ कल्पना सदैव आदर्शों-न्मुखी रही है। जब समाज सांसारिक आकर्षणों में अधिक विलासी होकर पतितोन्मुख होने लगता है तो उसमें उदात्त चरित्रों की कल्पना की जाती रही है। इस आदर्श कल्पना की दो कोटियाँ निर्धारित हो सकती हैं। पहली तो अलौकिक कल्पना की है और दूसरी लौकिक की। अनेक स्थलों पर लौकिक एवं अलौकिक कल्पनाओं में सन्धि उपस्थित की जाती है। यह तभी संभव हो सका है, जब जगत् के अभ्युत्थान के लिए अवतारों की प्रतिष्ठा हुई है। गीता के—“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।”

इस भाँति अलौकिक सत्ता ने लौकिक सत्ता को समय समय पर बल प्रदान किया है। संभवतः इसीलिए महाकाव्य की परिभाषा में नायक के सम्बन्ध में “तत्रैको नायकः सुरः” की व्यवस्था है। अलौकिक कल्पना में अध्यात्म की प्रतिष्ठा है। देवता समान रूप से मानवों के कन्धों से कन्धा भिड़ाकर जीवन में कार्य करते हैं और पतनोन्मुख मनुष्यों को या तो समाप्त कर देते हैं या उन्हें दण्ड देकर सत्-पथ पर चलने का अवसर प्रदान करते हैं। नाटकों में नायक के धीरोदात्त होने की कल्पना इसी आदर्शवाद से प्रेरित हुई है।

लौकिक भूमि पर देवताओं के अनुरूप आचरण करनेवाले महापुरुषों का चरित्र है। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ है कि इन महापुरुषों के जीवन में कोई घटना ऐसी घटित हुई, जो उनके उदात्त चरित्र पर प्रश्नचिह्न लगाती है। ऐसी स्थिति में कवियों और लेखकों ने कुछ नूतन कल्पनाएँ कर उनके उदात्त चरित्र की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ—महाभारत में 'दुष्यन्त' के चरित्र में यह दोष आ गया है कि उसने महर्षि 'कण्व' के आश्रम में शकुन्तला से गन्धर्व विवाह करने के

बाद भी उसकी कोई खोज-खबर नहीं ली और जब शकुन्तला स्वयं ही राजा दुष्यन्त के राजकक्ष में आकर उपस्थित हुई और उसने प्रणय-निवेदन किया, तो दुष्यन्त ने भरे दरबार में उसे तिरस्कृत किया और उससे अपरिचित रहने की बात भी कही। संभवतः दुष्यन्त भरे दरबार में इस बात को स्वीकार नहीं करना चाहता था कि वह मृगया में स्त्रियों का आखेट भी करता है। जब महाकवि कलिदास ने अपने नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त को नायक बनाया, तो नायक के 'धीरोदात्त' गुण के आग्रह से उसे दुष्यन्त के इस चरित्र-दोष की रक्षा करना आवश्यक हो गया और उन्होंने दुर्वासा के शाप की कल्पना की। शकुन्तला दुष्यन्त के ध्यान में डूबी रहने के कारण आश्रम में आये हुए दुर्वासा की अभ्यर्थना नहीं कर सकी। फलस्वरूप उसे यह शाप भोगना पड़ा कि जिसके ध्यान में वह डूबी है, वह उसे भूल जायगा। इस शाप की पृष्ठभूमि में दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति दुर्व्यवहार न केवल सार्थक हुआ, वरन् दुष्यन्त के चरित्र की प्रखरता का एक प्रमाण-पत्र भी बन गया। इस प्रकार अपनी उदात्त कल्पना से महाकवि कालिदास ने साहित्य में आदर्श की सृष्टि की।

सामान्य रूप से साहित्य में जो आदर्श स्थापित किया जाता है, वह अव्यावहारिक नहीं होता। सामान्य जीवन के क्रोड़ में भी यह आदर्श स्थापित किया जाता है, जिससे उसका आचरण प्रत्येक व्यक्ति के लिये संभव हो सके। आवश्यकता केवल इस बात की है कि जीवन के सहज आकर्षणों में मनुष्य की रुचि न हो, वरन् सात्विक जीवन के निर्माण में उसकी सक्रिय चेष्टा हो। महात्मा बुद्ध की साधना में विघ्न डालने के लिये जो अप्सरा-अनीकिनी प्रस्तुत हुई, वह अपने विलास के क्षेत्र में महात्मा बुद्ध को कणभर भी नहीं खींच सकी। यह अप्सराओं के आकर्षण की परिस्थिति श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपने चम्पू 'यशोधरा' में अत्यन्त चित्रात्मकता के साथ प्रस्तुत की है—।

“दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,

भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से।

क्षीण हुआ बन में क्षुधा से मैं विशेष जब,

मुझको बचाया मातृजाति ने ही खीर से।

आया जब मार मुझे मारने को बार बार

अप्सरा-अनीकिनी सजाये हेम-हीर से।

तुम तो यहाँ थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ,

जूझा, मुझे पीछे कर, पंचशर वीर से।

यह सुन्दर कल्पना तथागत के चरित्र में एक ऐसे आदर्श की पूर्ति करती है, जो जीवन में कल्याण की विधायिका है।

साहित्य के सृजन में जो प्रवृत्ति समस्त दृष्टिकोणों में निवास करते हुए दिशा-निर्देश करती है, वह तुलनात्मक है। प्राचीन परम्पराओं का इतिहास साहित्य के लिए एक आवश्यक पृष्ठभूमि है, जिस पर नवीन युग

तुलनात्मक प्रेरणा

का साहित्य उभरता है। साहित्य का यह उभार प्राचीन साहित्य के विकास की कड़ी हो सकता है जिसकी प्रतिक्रिया में नवीन प्रेरणाओं की प्रयोगात्मकता हो। यह अनुकूल या प्रतिकूल साहित्य की सृष्टि प्राचीन परम्पराओं की अपेक्षा से ही है और इस दृष्टि से प्राचीन और आधुनिक साहित्य में तुलनात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता हो जाती है। जब सोलहवीं शताब्दी के भक्ति-साहित्य का विकास सत्रहवीं शताब्दी के रीति-साहित्य में हुआ होगा, तब सोलहवीं शताब्दी के दृष्टिकोण में युगानुशासित संशोधन अनिवार्य हुआ होगा। कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास (यदि इसे विकास की संज्ञा दी जा सकती है) कला के क्षेत्र में अनिवार्य हो गया, जिसमें स्थूल सौन्दर्य की चित्रात्मकता प्रमुख हुई और यशोदा का बालकृष्ण प्रोपित्पतिका नायिका राधा का नायक हो गया। कृष्ण के इस व्यक्तित्व का विकास सूर आदि कवियों के भ्रमरगीत के आधार पर ही हुआ होगा। इस विरह को शृंगार और विलास की प्रमुखता प्रदान की गयी। वासुदेव श्रीकृष्ण को दक्षिण नायक रसिक कृष्ण के रूप में परिवर्तित कर लिया गया। कला-काल की इस प्रयोगात्मकता में धीरे धीरे कृष्ण का अध्यात्म-पक्ष भूला जाने लगा और वे संपूर्ण रूप से लौकिक नायक हो गये। इसी दृष्टिकोण में कवियों को आलोचना के लक्ष्य से बचने का एक कवच मिल गया। यदि यह काव्य का नायक श्रीकृष्ण अपनी विविध भंगिमाओं से जनता को रुचिकर नहीं हो सका, तो कोई हानि नहीं। क्योंकि प्राचीन साहित्य-परम्परा की दृष्टि से कृष्ण का नाम लेना क्या बुरा है? संभवतः इसी दृष्टि से प्रेरित होकर महाकवि भिखारी दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में लिखा था—

“आगे के सुकवि रीझि है तौ कविताई

न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो हं।”

राम के व्यक्तित्व में अनुकूल नायक होने की दृष्टि से शृंगार के अन्तर्गत विलास की कोई संभावना ही नहीं थी। लोक-शिक्षा के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में राम के व्यक्तित्व से कोई स्वतंत्रता नहीं ली जा सकती थी। सख्य भाव से तो कृष्ण को चाहे

जिस दिशा में ले जाया जा सकता था, किन्तु दास्य भाव से राम के व्यक्तित्व की पवित्रता की प्रशस्ति ही कवि-जनों के लिए पूजा की सामग्री थी। कला 'की गोद में पलनेवाले कवि, तुलसीदास द्वारा रखी हुई कृपाण की धार पर नहीं चल सकते थे। रसिक-प्रिया का लिखनेवाला, शृंगार के वसन्त में पुष्प की भाँति विकसित होनेवाला महाकवि केशव भी रामचन्द्रिका में वाल्मीकि का अनुयायी बन गया है, भले ही उसमें तुलसीदास जैसी सात्विकता नहीं थी। फिर भी वह ओरछा नरेश 'इन्द्रजीत' की मुस्कान और प्रवीणराय का कटाक्ष रामचन्द्रिका में नहीं उतार सका। जिसने रसिक प्रिया में कृष्ण के विलास की गाथा समस्त शृंगार के अंगों में प्रस्फुटित कर दी उसने राम की गाथा शक्ति और वैभव के स्वरो में घोषित की है। यह राम के व्यक्तित्व का प्रभाव ही है।

इस भाँति यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि साहित्य का मूल्यांकन 'तुलनात्मक' दृष्टि से ही निर्धारित किया जा सकता है। यह भी मान्य है कि साहित्य की आलोचना निरपेक्ष दृष्टि से की जा सकती है। किस प्रकार कोई साहित्यकार साहित्य-सृष्टि करता है, यह उसकी व्यक्तिगत अनुभूति पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व उसका अपना है—स्वतंत्र है। अतः उसके द्वारा की गई सृष्टि भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखती है। एक ही जीवन से प्राप्त की गई अनुभूतियों की परिणति अनेक कवियों में अनेक प्रकार से हो सकती है, जिस प्रकार एक ही भूमि से रस ग्रहण कर पाटल, चंपक, केतकी और वकुल के पुष्प अपने रूप और अपनी सुगंधि में अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। एक फूल की दूसरे फूल से तुलना वस्तुतः उसके विशिष्ट व्यक्तित्व की अवहेलना है। कवियों की अनुभूति भी अपनी विशिष्ट सुगंधि लिए हुए है। एक ही कृष्ण की भक्ति सूरदास और मीरा ने समान रूप से आत्म-समर्पण में की, किन्तु दोनों की अनुभूतियों में कितना अन्तर है ! इस भाँति साहित्यकारों या कवियों की अपनी विशिष्ट दृष्टि की एक विशिष्ट सत्ता है।

इस सत्य को स्वीकार करते हुए भी यह आवश्यक हो जाता है कि कवि-विशेष की विशिष्ट अनुभूतियों में प्राचीन या समकालीन दृष्टि से जो गहराई या उथलापन है, उस पर भी विचार कर लिया जाय—और इस भाँति एक विशिष्ट परम्परा का इतिहास जीवनगत संवेदना की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाय। उदाहरण के लिए साहित्य में राष्ट्रीयता का पार्श्व देखा जा सकता है। चारण काल के अन्तर्गत नाल्ह कृत 'बीसलदेवरासो', चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' या जगनिक कृत 'आल्ह खण्ड'; भक्ति-काल के अन्तर्गत केशवदास कृत 'वीरसिंहदेवचरित'; रीति-काल के अन्तर्गत भूषण कृत 'शिवराजभूषण' और 'शिवा-बावनी', लाल कृत 'छत्र प्रकाश',

आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'भारत-भारती' वियोगी हरि कृत 'वीर सतसई' अथवा मोहनलाल 'महतो' रचित 'आर्यावर्त' अथवा 'दिनकर' रचित 'कुरुक्षेत्र' यद्यपि अपने काव्यगत दृष्टिकोण में विशिष्ट अनुभूतियों से सम्पन्न हैं, तथापि तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि राष्ट्रीयता अपने विविध पार्श्वों में किस प्रकार विकसित हुई है। चारण-काल में यह राष्ट्रीयता वीर-पूजा का रूप ग्रहण कर रही थी; भक्ति काल में इसने कर्तव्य-निष्ठा का रूप धारण किया; रीति काल में इसका रूप जातिगत उत्थान का आदर्श था और आधुनिक काल में यही राष्ट्रीयता मानवता का संदेश वहन कर रही है। इस भाँति व्यक्ति में बीज रूप से अंकुरित होकर इसने साहित्य में एक वटवृक्ष का रूप ग्रहण किया, जिसकी प्रत्येक जटा विश्वबन्धुत्व का वृक्ष बन गई है। साहित्य की निरपेक्ष दृष्टि से हमें कवियों की विशिष्ट अनुभूतियों का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु सापेक्ष या तुलनात्मक दृष्टि से साहित्य के विकास की निश्चित परिस्थितियाँ हमें ज्ञात होती हैं, जो हमें साहित्य के सृजन में दिशा-दर्शन कराती हैं। इस भाँति यह स्पष्ट है कि साहित्य का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये तथा साहित्य की परम्पराओं को सम्बद्ध करने तथा उनका मूल्यांकन करने के लिये साहित्य में तुलनात्मक दृष्टि अपेक्षित है।

यह तुलनात्मक दृष्टि चार परिस्थितियों से अनुशासित है—धार्मिक, राजनी-
तुलनात्मक प्रेरणा की तिक, सामाजिक और व्यक्तिगत। इन पर क्रम से
चार कोटियाँ विचार किया जाना चाहिए।

धार्मिक—धर्म साहित्य का सबसे बड़ा प्रेरणा-स्रोत रहा है। यदि यह कहा जाय कि साहित्य के आदि में ही धर्म का प्रमुख हाथ रहा है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। विदेशी साहित्य का आदि भी धर्म के क्रिया-कलापों से ही उद्भूत हुआ। हमारा देश तो धर्म-प्रवण है और वेदों से साहित्य-रचना का जो सूत्रपात हुआ, वह धार्मिक प्रवृत्ति के ही अन्तर्गत है। धर्म की स्थिति जीवन की पवित्रता में है। यह पवित्रता श्रद्धा का रूप ग्रहण करती है। श्रद्धा आगे चलकर क्रिया-कलापों में अवतरित होती है। यह क्रिया-कलाप चिन्तन को प्रश्रय देता है, जिससे दर्शन की सृष्टि होती है। वह दर्शन कार्यों में प्रकट होता है और जीवन का संतुलन करता है। जीवन का संतुलन विवेक को जन्म देता है और समस्त अन्ध-विश्वासों को तोड़कर जीवन को व्यवस्थित करता है। यह असंदिग्ध रूप से देखा जा सकता है कि धर्म के आदि से लेकर विकसित होने वाले समस्त रूपों में जीवन की पवित्रता मेरुदण्ड की भाँति स्थिर और वर्तमान है और साहित्य, जो युगों के परिस्थितिजन्य कलुप से छनकर जीवन

को शताब्दियों तक खींचकर ले जाना चाहता है, पवित्रता के समानान्तर ही प्रवाहित होता है। इस भाँति धर्म चाहे जिस रूप में हो, वह प्रेरणा का रूप अवश्य ग्रहण करता है। युगों ने अनेक धार्मिक संघर्ष कराये हैं। भारतीय साहित्य में वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म का संघर्ष शताब्दियों तक चलता रहा और इस संघर्ष ने ही साहित्य के विकास के अनेक मार्ग प्रस्तुत किये। यह संघर्ष यज्ञ, मंत्र और बलि को लेकर ही चले थे। इन्होंने मानव जीवन में प्रतिष्ठित किये जाने वाले सात्विक गुणों की न जाने कितनी गहरी छान बीन की और साहित्य को एक जीवनगत अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई। दर्शन के क्षेत्र में अनेकानेक सम्प्रदाय स्थापित हो गये। वेदान्त के अनेक भाष्य हुए और उन भाष्यों ने जिन सम्प्रदायों को जन्म दिया उनसे साहित्य सृजन का एक नया क्षेत्र प्रस्तुत हुआ। प्रत्येक दशा में धर्म के साथ कुछ कर्म-काण्ड और अन्ध-विश्वास जुड़े रहते हैं। युगों की छिद्रान्वेषण दृष्टि या तो इन कर्म-काण्डों को उखाड़ फेंकती है, या उनमें संशोधन करती है। इस भाँति दर्शन के साथ जुड़ने-वाले कर्म-काण्ड और विश्वास भी संशोधित होते रहते हैं, क्योंकि उन्हींसे तो सम्प्रदायों की रूपरेखा निर्धारित होती है ! ऐसी स्थिति में विवेक से अनुप्राणित एक नया वर्ग उत्पन्न होता है, जो अन्ध-विश्वासों को तोड़कर जीवन को स्वस्थ मानवता के धरातल पर प्रतिष्ठित करता है। सन्त कवीर ने इसी मानवतावादी संस्कार को जगा कर जीवन को उलझानेवाले अनेक कर्म-काण्डों का घोर विरोध किया। धर्म के संशोधित रूप प्रत्येक युग में साहित्य के अस्त्र से ही लड़ना चाहते हैं और इस भाँति साहित्य की सृष्टि होती चलती है। यही कारण है कि भक्ति युग के राम और कृष्ण, मूर्ति और अवतार की कोटि से निकलकर आज रहस्यवाद के अन्तर्गत विश्वात्मानुभूति में नाम रहित “तुम” से संबोधित होते हैं।

मेरे जीवन में एक बार
 “तुम” देखो तो अनुपम स्वरूप
 में तुममें प्रतिबिम्बित होऊँ,
 “तुम” मुझमें होना ओ अनूप !

धर्म के विविध रूपों में संस्कृति की पृष्ठभूमि भी निर्मित होती है और हमारे बौद्धिक विकास का इतिहास भी उसमें संचित होता है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि धर्म की प्रेरणा ने साहित्य को बड़ा बल प्रदान किया है।

राजनीतिक—राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्य के रूप-निर्धारण में सदैव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायक हुआ करती हैं। इसका कारण यह है कि राजनीति का सम्बन्ध समाज से है और समाज अपने व्यष्टि या समष्टि रूप में साहित्य का प्रेरक है। किसी विशिष्ट राजसत्ता के प्रभाव से जनता किन्हीं विशिष्ट नियमों का पालन करती है। उन नियमों से एक विशिष्ट व्यवहार बनता है और उसी व्यवहार का रूप साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। जब हमारे देश में छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य थे तब उन राज्यों के अधिपतियों की विशिष्ट रुचि साहित्य का निर्माण कराती थी। यदि इन राज्यों के नरेश युद्ध-प्रिय होते तो साहित्य वीर-पूजा में लिखा जाता। यदि इन छोटे छोटे राज्यों के नरेश विलास-प्रिय होते तो साहित्य नायक-नायिका वर्णन, ऋतुवर्णन अथवा नख-शिख वर्णन में लिखा जाता। हमारे साहित्य के चारण-काल और रीति-काल इन्हीं राजनीतिक प्रवृत्तियों के सूचक हैं। यही बात न्यूनाधिक मात्रा में भक्ति-काल के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक राजनीतिक क्षेत्र में अनेक उत्थान और पतन हुए। दिल्ली में लोदीवंश से लेकर मुगल वंश के शाहजहाँ बादशाह तक के शासन-काल में भक्ति काल का विस्तार माना गया है। उसमें हिन्दी काव्य के अनेक रूप पल्लवित हुए। विशेष रूप से निर्गुण सम्प्रदाय और सगुण सम्प्रदाय की विचार-धाराएँ परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करती हुई अग्रसर हुईं। निर्गुण विचार-धारा में अनेक सम्प्रदायों का सूत्रपात हुआ तथा सगुण सम्प्रदाय में राम और कृष्ण की भक्ति अनेकानेक रूप धारण कर अग्रसर हुईं। कुछ साहित्यकारों का मत है कि यदि इस देश में मुसलमानों का आगमन न हुआ होता तो हमारा साहित्य नब्बे प्रतिशत उसी भाँति लिखा जाता, जिस भाँति वह वर्तमान रूप में है। क्योंकि धर्म की प्राचीन परम्पराएँ इतनी सुदृढ़ थीं कि उन्हीं के प्रभाव से साहित्य का विकास होता चला गया। इस कथन में सम्पूर्ण सत्य नहीं है। निर्गुण सम्प्रदाय भले ही नाथ सम्प्रदाय की परम्परा से पोषित हो, किन्तु उस पर जो सूफियों का प्रभाव है, वह तो तत्कालीन परिस्थितियों से ही प्रेरित हुआ है। दूसरे, उस समय जो वैष्णव धर्म के अन्तर्गत भक्ति की अजस्र धारा रामानन्द के प्रभाव से समस्त उत्तरी भारत में प्रवाहित हो उठी थी, उससे “अव्यक्तिवादी” निर्गुण सम्प्रदाय भी प्रभावित होने से नहीं बच सका। मेरी दृष्टि में भक्ति के अन्तर्गत प्रेम की आन्तरिक अनुभूति और उसकी मस्ती सूफीमत से आई हुई ज्ञात होती है। तत्कालीन वैष्णव धर्म में मूर्ति और अवतार की विशेष प्रमुखता थी। ऐसी स्थिति में जबकि सन्त सम्प्रदाय के पूर्व निर्गुण विचार धारा का पूर्ववर्ती सम्प्रदाय नाथ-मत ‘शिव’ और ‘शक्ति’ के व्यक्तित्व से अनुप्राणित था और

परवर्ती वैष्णव सम्प्रदाय राम और कृष्ण के व्यक्तित्व से स्फूर्तिमय हो उठा था, तब मध्य में स्थित निर्गुण सम्प्रदाय में ब्रह्मा को व्यक्तित्व से हीन क्यों माना गया ? न उसका विश्वास मूर्ति में रह सका, न अवतारों में। अन्य छोटे-छोटे कारणों के साथ एक विशेष कारण यह भी है कि सन्त-सम्प्रदाय का आविर्भाव दिल्ली के लोदीवंश के राज्य-काल में हुआ। लोदी वंश के शासक विशेष रूप से असहिष्णु थे और मन्दिर तथा मूर्तियों को तोड़ने में उनकी राजनीति सक्रिय थी। पठानों के आक्रोश से सुरक्षित रखने के लिये ही सन्त-सम्प्रदाय ने अपने धार्मिक रूप को स्थूल होने से बचाया। अपने आराध्य को 'कैवलाकन्त' 'सारंगपानि' 'रघुनाथ' 'गोपाल' आदि नामों से पुकारते हुए भी सन्त कबीर ने उनके अवतारों का तथा उनकी मूर्तियों का घोर विरोध किया। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की परख कबीर में विशेष रूप से ज्ञात होती है। मुसलमानी धर्म के निराकार और निर्गुण ईश्वरवाद के सम-कक्ष ही उन्होंने अपने राम की कल्पना की। इसीलिए उन्होंने 'राम' और 'रहीम' 'केशव' और 'करीम' को पर्यायवाची बना दिया और तत्कालीन विद्वेष भावनाओं को समाप्त करने के लिए ही ऐसे विश्व-धर्म की स्थापना की, जिसमें हिन्दू और मुसलमान तथा ब्राह्मण और शूद्र एक साथ सम्मिलित हो सकें। कबीर के काव्य को गहरी दृष्टि से परखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके युग में जहाँ एक ओर हिन्दू और मुसलमानों के बीच घोर शत्रुता थी, वहाँ ब्राह्मण और शूद्र वर्ग में भी घोर वैषम्य था। तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों के हृदय में तथा मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं के हृदय में जो भयानक विक्षोभ था, उसी के निराकरण के लिये कबीर ने अपने साहित्यिक अस्त्र का प्रयोग किया। इस भाँति कबीर की कविता परम्परा से उतनी अनुशासित नहीं है, जितनी अधिक तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से। और कबीर ने परम्पराओं का घोर विरोध किया है। इसलिये यह कहना कि कबीर की कविता परम्परा की एक कड़ी है, सत्य की अवहेलना ही होगी।

इसी प्रकार भक्ति-काल की सगुणोपासना में जो मूर्ति व अवतार का वैभव दृष्टिगत होता है, उसमें अकबर की सहिष्णुता परिलक्षित होती है। अकबर ने 'दीन-इलाही' का प्रवर्तन किया और सभी धर्मों को स्वच्छन्द रूप से विकसित होने का अवसर प्रदान किया। उसने अपने दरबार में हिन्दू गवैयों को स्थान दिया था। इसी से ज्ञात होता है कि वह साहित्य और कला के क्षेत्र में धर्म की कट्टरता को भूल गया था। इस राजनीतिक औदार्य ने साहित्य को समृद्ध होने का पूर्ण अवसर दिया और फलस्वरूप सूर और तुलसी का काव्य वैष्णव धर्म की स्फूर्ति में समृद्धिशाली बन सका।

आधुनिक काल में पश्चिम के सम्पर्क ने ही तो हिन्दी साहित्यको ज्ञान की अनेक दिशाएँ और विदिशाएँ प्रदान कीं और हमारे शासकों के वस्तुवादी दृष्टिकोण ने साहित्य को अभूतपूर्व लौकिकता दी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने “नीलदेवी” नाटक, पश्चिम के प्रभाव से प्रेरित होकर ही लिखा। इसी प्रकार “भारत दुर्दशा” नाटक उन्होंने सन् १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह से उत्पन्न राष्ट्रीयता की संवेदना से निर्मित किया। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से चौथे दशक का साहित्य अधिकांश रूप से स्वतंत्रता-प्राप्ति की प्रेरणा से लिखा गया। हमारे साहित्य में भावना की अपेक्षा बुद्धिवादी दृष्टिकोण ने विशेष स्थान प्राप्त किया और हमने साहित्य का सृजन न केवल ललित दृष्टि से वरन् उपयोगी दृष्टि से भी प्रचुर परिमाण में किया। यदि पश्चिम का सम्पर्क हमारे साहित्य से न हुआ होता तो ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में, जो आधुनिक प्रयोग हुए हैं, वे हो पाते, यह कहना कठिन है। इस भाँति यह स्पष्ट है कि राजनीतिक परिस्थितियाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से साहित्य को प्रभावित करती हैं, और उनके निर्माण की दिशाएँ निर्दिष्ट करती हैं।

सामाजिक—यह स्पष्ट किया जा चुका है कि साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। समाज की विचार-धारा जिस दिशा में अग्रसर होगी उस दिशा की क्रियात्मक या प्रतिक्रियात्मक विचार-धारा साहित्य में अवश्य ही देखी जा सकती है। समाज में कुछ विशिष्ट मान्यताएँ होती हैं और साहित्य या तो उन मान्यताओं के अनुकूल निर्मित होता है अथवा उनका विरोध करते हुए वह नई विचार-धारा का सूत्रपात करता है। प्रधानतः ‘ताइनी’ का सिद्धान्त समाज और साहित्य की इसी मान्यता पर आधारित है। यह सामाजिक दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य के मूल में भी है। साहित्य में जो शिव है, वह इसलिए अभिनन्दनीय है कि उसके द्वारा मानव-मात्र और समाज का कल्याण संभव है। साहित्य में सुरक्षि की अनिवार्यता भी इसीलिये है कि उसके द्वारा समाज में सात्विक भावनाओं को प्रश्रय मिले और दूषित भावनाएँ समाज के धरातल पर न जा सकें। इसलिए साहित्य के द्वारा समाज की व्यवस्था इंगित हो जाती है और समाज की व्यवस्था से साहित्य का सृजन मानव के भविष्य-पथ को प्रशस्त करने के लिये होता है।

हिन्दी साहित्य में समाज की व्यवस्था के चित्र हमें अनेक रूपों में मिलते हैं। समाज के वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था भी जीवन को संतुलित रखने के अर्थ में कल्पित की गई। इस बात की संभावना भी हमें दीख पड़ती है कि वर्णाश्रम धर्म के कठोर अनुशासन ने कुछ प्रतिक्रियाएँ हमारे समक्ष प्रस्तुत कीं। धार्मिक साहित्य के षठन-पाठन की अनुमति शूद्रों को नहीं दी गई और इसीलिए संत-संप्रदाय की मूल

प्रेरणा इसी वर्णाश्रम धर्म की प्रतिक्रिया में कही जा सकती है। मेरा तो ऐसा अनुमान है कि संत-सम्प्रदाय में जो निराकार और निर्गुण की प्रेरणा आई, उसका मूल कारण इसी वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत शूद्रों को देव-पूजन या मन्दिर-प्रवेश की सुविधा न देने में ही है। जब शूद्रों ने देखा होगा कि वे सवर्णों की भाँति सगुण ब्रह्म की उपासना मूर्ति और अवतार के माध्यम से नहीं कर सकते, तो उन्होंने उसका विरोध करते हुए अपने ब्रह्म की कल्पना निर्गुण व निराकार के रूप में करना ही अभीष्ट समझा। संभवतः इसी प्रतिहिंसा में कबीर ने कहा होगा कि—

बुनिया ऐसी बावरी पाथर पूजन जाय ।

यह संघर्ष जो संत-सम्प्रदाय ने समाज के अन्तर्गत उपस्थित किया, तुलसीदास को भी मान्य नहीं हुआ होगा। तभी उन्होंने यह दोहा लिखा—

बादाहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुमते से कछु घाटि ।

जानाहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहि डाँटि ॥

यह संघर्ष अधिक दिनों तक नहीं रह सका होगा, क्योंकि धीरे धीरे—

जाति पाँति पूछै नहिं कोई

हरि को भजै सो हरि का होई

की सहृदयता लेकर वैष्णव धर्म में, विशेषकर पुष्टि-मार्ग में, ऐसे “भगवदीय” सम्मिलित हुए, जो विविध जातियों के थे। तुलसीदास ने भी अंत में झुंझलाकर कहा—

“धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ ।”

इस भाँति हिन्दी के माध्यमिक काल में इस वर्ण-संघर्ष ने साहित्य के अनेकानेक रूप उपस्थित किये, और संत-सम्प्रदाय तो प्रधान रूप से इस वर्ण-संघर्ष की ही प्रतिक्रिया है।

रीतिकालीन साहित्य तो सामान्य जनता के हृदय से उठकर राज-दरबारों में चला आया तथा मनोरंजन और विलास के उपकरण उपस्थित करता हुआ ‘रस-रीति’ में ही केन्द्रीभूत हो गया। यह पूर्ण प्रामाणिकता के साथ तो नहीं कहा जा सकता कि रीतिकाल का साहित्य जन-साहित्य न होकर एकमात्र वर्ण-साहित्य ही है। धार्मिक काल की परंपराएँ, जो जन-जीवन की व्यक्तिगत निष्ठा से पोषित होती आ रही थीं, अवश्य ही वर्तमान रही होंगी यद्यपि वे परंपराएँ रीतिकालीन ग्रंथों की चकाचौंध में उषा-काल के तारों की भाँति निष्प्रभ और अदृष्ट रहीं। सन्त कवि

चन्द्रदास (जन्म संवत् १७२३) द्वारा लिखित 'भक्त-विहार' तथा शिवराम लिखित 'भक्त-जयमाल' (संवत् १८०३) इस बात का संकेत करते हैं कि भक्तिकालीन परम्पराएँ साहित्य में अवश्य ही चलती रहीं, किन्तु दुर्भाग्य से उस परम्परा से संबंधित ग्रन्थ या तो नष्ट हो गये, या प्रकाश में नहीं आये; किन्तु यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि समाज की मनोवृत्ति साहित्य के निर्माण में सदैव जागृत रही है। रीतिकालीन साहित्य को देखने से यह स्पष्ट तो हो ही जाता है कि मुगलकालीन वैभव का चन्द्र अपनी सोलहों कला के साथ साहित्य और कला के जल में शत-शत रूपों से प्रतिबिम्बित हो रहा था।

आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारत के 'सत्त्व' ग्रहण करने की भविष्य-वाणी की थी और उसमें उन्होंने 'उपधर्मों' के त्याग करने की बात कही थी। उन्होंने ब्राह्मण और शूद्र न कहकर 'खल' और 'सज्जन' ये दो वर्ग ही स्थापित किये थे। सत्य-हरिश्चन्द्र नाटक के भरत-वाक्य में उन्होंने कहा है :—

“खल जनन सौ सज्जन दुखी मत होहिं, हरि-पद-रति रहें।

उपधर्म छूटें, सत्त्व निज भारत गहें, कर दुख बहें।”

दयानन्द सरस्वती तथा महात्मा गांधी ने इस वर्ग-भेद के दूर करने में जो स्तुत्य कार्य किया है, उससे हमारे साहित्य को विश्वबन्धुत्व की दिशा प्राप्त हुई। पश्चिम के सम्पर्क ने भी जो हमारी शिक्षा को व्यापक क्षेत्र प्रदान किया, उससे समाज के अन्तर्गत अन्ध-विश्वासों का ह्रास हुआ और हमने समाज को स्वास्थ्य प्रदान कर फिर से उसे मानवता के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया। साहित्य की दृष्टि इस भाँति मानवता के कल्याण-चिन्तन में अधिक संस्कृत बनी और उसके द्वारा जीवन-दर्शन में सुविधा प्राप्त हुई। इस प्रकार सामाजिक परिस्थितियाँ नवीन क्षेत्रों का अन्वेषण करने में साहित्य की सहायिका हुआ करती हैं।

व्यक्तिगत—साहित्य में व्यक्तित्व पर विचार करते हुए यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि साहित्य में महान् प्रतिभाएँ समय समय पर आविर्भूत होकर साहित्य का विकास करती हैं। यह भी संभव हुआ है कि धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं का विरोध करते हुए विशिष्ट व्यक्तियों ने विशिष्ट प्रकार के साहित्य का निर्माण किया। विकास-क्रम के सिद्धान्तानुसार मानव जगत् में अनेक प्रक्रियाएँ हुआ करती हैं। समाज और व्यक्ति को लेकर ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में नित्य नये प्रयोग हुआ करते हैं और परिस्थितियों का मूल्यांकन जीवन की आवश्यकताओं को लेकर हुआ करता है। इस प्रकार किसी कारण को लेकर कार्यों की अनन्त

संभावनाएँ विविध दिशाओं में अनुमानित की जाती हैं और मानव अपने प्रगति-पथ पर अग्रसर होता है। जीवन की अनुभूति व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर निर्भर रहती है। व्यक्ति अपनी परिस्थितियों से अनुशासित होता है और उसीसे परिस्थितियाँ अनुप्राणित होती रहती हैं। व्यक्तियों की रुचि सीमाओं में आबद्ध होते हुए अपना क्षेत्र निर्धारित करती है। यही कारण है कि वेदान्त तत्व का विकास शताब्दियों के प्रवाह में विविध दिशाओं से उठनेवाली तरंगों की भाँति विविध आचार्यों ने किया। रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी और निम्बार्क ने उसी तत्व को अपनी अपनी दृष्टि से देखने हुए ज्ञान के क्षेत्र में अनुभूतियाँ प्रस्तुत कीं। ये अनुभूतियाँ वस्तुतः तत्व-दर्शन की दिशाएँ थीं, जो अपने समक्ष तुलनात्मक दृष्टि से प्रेरित हुई थीं, तथा जो अपनी दिशा में प्रयोग और संशोधन हैं। इनमें संग्रहण, अवधारण एवं प्रकाशन की विशिष्ट शैलियाँ हैं। इसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में भास, कालिदास, भवभूति एवं विशाखदत्त ने नाटकीय कथावस्तु के अन्तर्गत नाट्य-शिल्प की अनेकानेक शैलियाँ प्रस्तुत की हैं। हिन्दी साहित्य में संत-सम्प्रदाय में नामदेव और कबीर की शैलियाँ अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियों से अनुशासित हैं। नामदेव के 'विट्ठल' में जो पौराणिक परम्परा है, वह कबीर के राम या रहीम में नहीं है। यदि कबीर जुलाहे के घर में पोषित न हुए होते, तो उनके तत्व-दर्शन में चर्खे और कर्घे के रूपक इतने प्रचुर परिमाण में प्रयुक्त न होते। महाकवि केशव यदि महाराज इन्द्रजीत के आश्रय में न होते और राज्य-वैभव की वरमाला उनके गले में न पड़ी होती, तो उनकी रामचन्द्रिका पृथ्वीगत मानस की भाँति सामान्य जन का हृदय प्रक्षालित करनेवाली ही होती, आकाशगत सौन्दर्य बिखेरनेवाली चन्द्रिका नहीं। इसी प्रकार महाकवि बिहारी यदि मिर्जा राजा जयसिंह के राजकवि न होते तो संभवतः "बिहारी-सतसई" का रूप ही दूसरा होता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विशेष दृष्टि ने भारतीय विप्लव की प्रतिक्रिया पहचानी और इसलिये उन्होंने जिस साहित्य का सृजन किया वह जन-जागरण का प्रतीक बन गया। प्रेमचन्द का साहित्य भारतीय ग्रामीण जीवन का विश्लेषण करनेवाला सिद्ध हुआ तथा उनके उपन्यासों और कहानियों में समाज की ग्रन्थियों को खोलने का कुशल अंगुली-संचालन दीख पड़ा। 'प्रसाद' ने भारतीय इतिहास के स्वर्णिम संवेदना-विन्दुओं को साहित्य के उपवन में ओस-विन्दुओं की भाँति सुसज्जित किया। इस संदर्भ में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि व्यक्ति-विशेष की अन्तर्व्यापिनी दृष्टि साहित्यगत प्रयोगों की जननी है। वस्तु-स्थिति यह है कि प्राचीन साहित्यिक रूपों की पृष्ठ-भूमि पर व्यक्ति-विशेष अपनी परिस्थितियों की व्यापक भूमिका लेकर

अवतरित होता है और पूर्ववर्ती दृष्टिकोणों में एक संशोधन उपस्थित करता है। इस प्रकार साहित्य के विकास में नई दृष्टियों का समाहार होता चलता है और जीवन की विवेचना अनेक दिशाओं से आती हुई किरणों की भाँति संवेदना-विन्दुओं पर केन्द्रीभूत होकर जीवनगत सत्य को अनुप्राणित करती है।

यहाँ यह दृष्टव्य है कि प्रतिभा-संपन्न व्यक्तियों की विशिष्ट अनुभूति पूर्वकाल के लेखकों की प्रतिभा से संतुलन उपस्थित करती हुई किसी नई दिशा की ओर संकेत करती है और साहित्य के इस विकास-क्रम में तुलनात्मक दृष्टि स्वयमेव उपस्थित होती है। इसी दृष्टि से हम कालिदास, भवभूति और विशाखदत्त की नाट्यकला में तुलना उपस्थित करते हैं। कबीर और तुलसी के सिद्धान्त-पक्ष की मीमांसा हम राम को केन्द्र मान कर करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और 'प्रसाद' की नाट्य-कला, देवकीनन्दन खत्री और प्रेमचन्द की उपन्यास-कला, 'पूर्ण' और रत्नाकर का प्रकृति-चित्रण तथा मैथिलीशरण गुप्त और 'प्रसाद' की काव्य-कला की तुलना कर सकते हैं। इस भाँति साहित्य-सृजन में तुलनात्मक दृष्टि जहाँ साहित्य की विकासोन्मुखी प्रकृति की ओर संकेत करती है, वहाँ साहित्यकारों के व्यक्तिगत शिल्प की ओर भी इंगित करती है। तुलनात्मक दृष्टिकोण साहित्य की प्रवृत्ति को पहचानने का एक सफल माध्यम है।

षष्ठ प्रकरण

साहित्य में रस और मनोविज्ञान की स्थिति

रस और मनोविज्ञान पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि दोनोंकी आधार-भूमि समान होते हुए भी दोनों के लक्ष्य में महान् अन्तर है। रस की भाँति मनोविज्ञान जीवन के वस्तुवाद में प्रवेश तो करता है, किन्तु वह शंकर की जटाओं में समाई हुई गंगा की भाँति अपने स्थान पर ही घूमता रहा है, वहाँ से आगे बढ़ने की क्षमता उसमें नहीं है, किन्तु रस मनोविज्ञान को उसकी सीमित सृष्टि से निकालकर लोक-कल्याण की दृष्टि से वसुन्धरा पर प्रवाहित करता है और उसे “आनन्द-सिन्धु” में लीन करा देता है। इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि मनोविज्ञान विश्लेषणात्मक है, रस संश्लेषणात्मक। रस की स्थिति विराट् जीवन से हृदय के तादात्म्य में संभव होती है और मनोविज्ञान व्यक्तियों को लेकर इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले कार्य-व्यापारों के निरूपण में होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रस के अन्तर्गत स्थायी भावों, विभावों, अनुभावों एवं संचारीभावों में मनोविज्ञान योग प्रदान करता है, किन्तु इस योग को सम्यक् रूप से गति प्रदान करने की क्षमता रस में ही संभव होती है। विकासवाद की दृष्टि से यह अवश्य मान्य है कि जीवन के प्रभात में मनोविज्ञान अपने मनोविकारों की इकाइयों में साहित्य-निर्माण के लिए अग्रसर हुआ। दूसरे शब्दों में, साहित्य की आदि प्रेरणा में मनोविज्ञान की प्रगति का इतिहास है। आगे चलकर मनोविकार रस में परिणत हुए होंगे। यह भी संभव हो सकता है कि किसी विशेष परिस्थिति में निष्पन्न रसानुभूति अपने अभिव्यक्तीकरण के लिये मनोविकारों को ही लेकर चली हो। आरंभ की स्थिति में हम इसे मनोविज्ञान की अपेक्षा मनोविकार कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं।

साहित्य की दृष्टि से इन पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

भारतीय साहित्य रस के द्वारा ही सबसे अधिक अनुप्राणित हुआ है, क्योंकि उसका ध्येय सामान्य रूप से वस्तुवादी और व्यक्तिवादी नहीं था। उसमें जीवन

की दृष्टि समष्टिगत थी। यह जीवन केवल मानव जगत् से ही सम्बन्ध नहीं रखता था, प्रत्युत् मानवेतर तथा जड़-जगत् भी उसकी परिधि में थे। ऐसी स्थिति में मानवेतर तथा जड़-जगत् में मनोविज्ञान की स्थिति संभव न होने के कारण मानव-मनोविज्ञान का आरोप ही उस जगत् पर हुआ और यह मनोवैज्ञानिक प्रतिष्ठा जीवन के समष्टि रूप को हृदयंगम करने का एक माध्यम बनी। इस विशाल जीवन की अनुभूति तब तक संभव नहीं थी, जब तक कि इस विश्व में अन्तर्निहित जीवन की गति सर्वतोभावेन ग्रहण न की जाती। इस व्यापक दृष्टि ने ही इसको जन्म दिया। समष्टि के प्रति जीवन की संवेदना साधारणीकरण की मधुमती भूमिका बनी। रूप एवं गति की इकाइयों को मिटाकर बाह्य जगत् जब अन्तर्जगत बना, तो उसमें प्रकृति का कल्याण-विधायक रूप ही दृष्टिगत हुआ। और इसी कल्याण-विधायक रूप में “आनन्द” के दर्शन हुए। इसीलिए तो ‘रस’ की परिभाषा “लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति” का रूप ग्रहण कर सकी।

मानव ने अपने विकास में सुख के न जाने कितने स्वर्ग बनाये। लेकिन वे समय पाकर खिलौने की तरह टूट गये। अन्त में उसने आनन्द के सागर में अवगाहन किया और उससे वह जीवन का सारा श्रम खो सका और ऐसी शान्ति प्राप्त कर सका जो ध्रुव नक्षत्र की भाँति स्थिर रही। इसी आनन्द-सागर में उसे कविता का मोती प्राप्त हुआ, जिसके प्रत्येक पार्श्व में उसे जीवन की कान्ति अनेक रंगों में उतरती हुई दीख पड़ी।

सुख इन्द्रियों का विषय था, जो जीवनगत परिस्थितियों के आवेग से घटता था—बढ़ता था और कभी-कभी विद्युत् की तरह कौंधकर दुःख के काले बादल में विलीन हो जाता था। उस पर कौन विश्वास कर सकता है! वह तो तितलियों की तरह परिस्थितियों के फूलों पर एक क्षण बैठता है, फिर उड़ जाता है। उसमें वस्तु का मोह है, परिस्थितियों की सीमा है और व्यक्ति का बन्धन है। लेकिन आनन्द इन्द्रियों का नहीं, अन्तःकरण का विषय है। आशा की लता में श्रद्धा के फूल की भाँति है, जो कभी नहीं मुरझाता। एक बार इस आनन्द को पाने के बाद फिर किसी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं रहती। समस्त विचारों के विहंग एक स्थायी नीड़ बना लेते हैं और उनके कंठों से अनाहत संगीत मुखरित होता रहता है। वह संगीत सागर की भाँति सदा एक-रस है, न घटता है, न बढ़ता है, सदा अपनी मर्यादा में स्थित है। सांसारिक दुःखों में भी यह आनन्द अधुण रहता है जैसे काँटों से भरे हुए वृन्त पर गुलाब का फूल अपनी अनुपम शोभा और मादक सुगंध में खिला रहता

है। तब यह आनन्द वस्तु की सीमाओं को पार कर असीम हो जाता है और व्यक्ति का व्यापार न होकर समष्टि की संपत्ति हो जाता है। साधारणीकरण के साम्राज्य में ही इस आनन्द का अभिवेक होता है।

व्यक्ति की सीमा को पार करने पर इसमें अध्यात्मवाद की किरण फूटने लगती है। इस किरण को जब हम संसार के जीवन में प्रतिविम्बित करते हैं, तो इसी का नाम 'रस' हो जाता है। इस भाँति रस में आनन्द की किरण है, जो लोकव्यापी होते हुए भी लोकोत्तर है। यह रस जब जीवन में प्रवेश करता है तो काव्य का जन्म होता है, जब अध्यात्म में प्रवेश करता है तो दर्शन का। इस भाँति काव्य और दर्शन एक ही वृन्त के दो फूल हैं और उस वृन्त का नाम है 'रस', जिसके कोड़ में आनन्द का सागर संचित है। इस प्रकार ब्रह्म की संज्ञा भी 'रस' है। "रसो वै सः"

लोकोत्तर आनन्द से परिपूर्ण 'रस' के इस रूप पर भी विचार कर लेना चाहिए। सर्वप्रथम नाट्य-शास्त्र के निर्माता आचार्य भरत ने रस का रूप निर्धारित करते हुए कहा :—

“विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः।”

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से ही रस-निष्पत्ति होती है। भाव का परिचय देनेवाला विभाव है, जो आश्रय और उद्दीप्त करने की दृष्टि से आलंबन और उद्दीपन विभाव का रूप ग्रहण करता है। जिन क्रियाओं से भाव का अनुभव या अनुमान हो, वह अनुभाव है। इसके तीन प्रकार हैं :— सात्विक, कायिक और मानसिक। जो भाव बार-बार उत्पन्न होकर संचरित होते हैं, वे संचारी भाव हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वाद वाले पदार्थों को एक साथ मिलाने से एक विशेष रस उत्पन्न होता है, जिसमें किसी एक पदार्थ का स्वाद नहीं होता, किन्तु सबसे भिन्न एक विलक्षण स्वाद हो जाता है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी भाव के एकत्र होने से जो विशेष आनन्द की अनुभूति होती है, उसी का नाम 'रस' है। भट्ट लोल्लट ने 'प्रतीयमान', शंकुक ने 'चर्व्यमाण', भट्ट नायक ने 'भुज्यमान' और अभिनवगुप्त एवं मम्मट ने 'आस्वाद-मान' के विशेषणों से 'रस' की अनुभूति का परिचय दिया है। आनन्दवर्धनाचार्य और पंडितराज जगन्नाथ ने तो काव्य में रस को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में केवल आठ ही रस माने हैं। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। इनमें शृंगार रस का विशेष महत्व है। इसका कारण यह है कि शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है, जो प्रेम का पर्याय होकर

सर्वव्यापी है और जिसमें अधिक से अधिक संचारी भावों की स्थिति हो सकती है। पद्माकर ने इस 'रति' का परिचय अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और सरस ढंग से दिया है :—

सजन लगी है कहूँ कबहूँ सिंगारन को,
तजन लगी है कहूँ ऐसे बैस बारी की।
चखन लगी हैं कछू चाह 'पदमाकर' त्यों
लखन लगी हैं मंजु मूरति मुरारी की।
सुन्दर गोविन्द गुन गनन लगी हैं कछू,
सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी की।
पगन लगी है लगी लगन हिये सों नेक,
लगन लगी हैं कछू पी की प्राणप्यारी की॥

आचार्य भरत ने रस की निष्पत्ति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग की बात कही है। यह संयोग क्या है? विविध आचार्यों ने इस संयोग को ध्वनि, सम्यक् योग, भावना-विकार, ज्ञान, सम्बन्ध, अनुभाव, सम्मिलन, चमत्कार-पूर्ण आदि अर्थ में लेकर रस की निष्पत्ति मानी है। मैं समझता हूँ कि यह 'संयोग' सानुपातिक अनुभवजन्य स्थिति का ही द्योतक है। यह सानुपातिक अनुभवजन्य स्थिति क्या है? किसी भी रस की निष्पत्ति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव वर्तमान रह सकते हैं, किन्तु यदि वे पात्र और परिस्थिति की अपेक्षा से उपयुक्त मात्रा में इस प्रकार न हों कि उनका अनुभव किया जा सके, तो रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिस्थिति की अनुभूति आवश्यक है। संयोग में भी वियोग की अनुभूति संभव है और वियोग में संयोग की अनुभूति। मीराबाई के गिरिधर गोपाल सांसारिक परिस्थितियों की दृष्टि से उनसे दूर थे, किन्तु मीराबाई ने वियोग में भी संयोग की अनुभूति की। इसीलिए उन्होंने लिखा :—

“जिनके पिया परदेस बसत है लिखि लिखि भँजत पाती।
मेर पिया मो माँहि बसत है, गूँज कळूँ दिनराती॥”

इस प्रकार रसोद्रेकता के लिए उपयुक्त मात्रा में अनुभूति तत्व की अपेक्षा है। यही पर्याप्त नहीं है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग हो जाय। इसीलिए तो महाकवि पद्माकर ने अनुभूति तत्व को ध्यान में रखते हुए लिखा है :—

सुन्दर गोविन्द गुन गनन लगी है कछु,
 सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी की।
 पगन लगी है लगी लगन हिये सों नेकु,
 लगन लगी है कछु पी की प्राणप्यारी की ॥

‘कछु’ शब्द का प्रयोग कर महाकवि पद्माकर ने मनोविज्ञान की झिझक और पीड़ा का संकेत कर अनुभूति-ज्ञान को संपुष्ट कर दिया है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से जो भाव स्थिर होता है, वही स्थायी-भाव है जिसमें रस का संचार होता है। इस भाँति नव रसों में नव स्थायी भाव हैं। शृंगार में रति, हास्य में हास, करुण में शोक, रौद्र में क्रोध, वीर में उत्साह, भयानक में भय, वीभत्स में ग्लानि, अद्भुत में आश्चर्य। आचार्य भरत के बाद के आचार्यों ने शान्त रस भी माना जिसका स्थायी भाव निर्वेद है।

रस के इस विवेचन में एक बात सामने आती है। वह यह कि आनन्द तो अन्तःकरण की एक सहज प्रक्रिया है। इस सहज प्रक्रिया के लिये सिद्धान्त की आवश्यकता ही क्या है! जब हम हँसते हैं, रोते हैं, प्रेम करते हैं तो किसी सिद्धान्त को सामने नहीं रखते। कोई हास्य की घटना घटित होती है, तो हम हँस पड़ते हैं, कोई शोक का प्रसंग आता है, तो बरबस हमारे नेत्रों से आँसुओं का प्रवाह होने लगता है। जब कोई सुन्दर वस्तु या परिस्थिति सामने आती है, तो हम उससे सहज ही प्रेम करने लगते हैं। ये क्रिया-कलाप हमारी सहज प्रकृति से ही होते हैं, इसी प्रकार आनन्द की अनुभूति सिद्धान्त पर नहीं होती। यह बात दूसरी है कि हमारे हँसने, रोने, प्रेम करने और आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने की क्रिया समाप्त होने पर उसका विश्लेषण किया जाय और तब उस विश्लेषण के आधार पर सिद्धान्तों का निर्माण हो। इसे हम रस का शिल्पगत (Technical) सौन्दर्य भी कह सकते हैं। रीतिकाल में रस का परिचय इसी सिद्धान्त-सापेक्ष दृष्टि से किया गया है।

भक्ति-काल में रसानुभूति की दृष्टि भिन्न रही है। उसमें कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि कवियों ने रस-निरूपण के लिये स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग की प्रदर्शनी कभी उपस्थित नहीं की। उनकी आनन्दानुभूति तो इतनी विलक्षण थी कि केवल विभाव या अनुभाव में ही उन्होंने रस की सृष्टि कर दी। इसका कारण यह है कि इन संत कवियों की चित्त-वृत्ति स्वरूपानन्द में इतनी अधिक तन्मय थी कि उन्हें विभावादिके माध्यम से मन पर पड़े हुए सांसारिक आवरण को हटाने के लिये कोई अलौकिक क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं थी। उनका चैतन्य प्रस्तुत प्रसंग के स्थायी भाव या आलंबन विभाव से ही मिलकर

‘रस’ की सृष्टि कर देता था। इस प्रकार अभिधा, भावना और भोग की प्रक्रियाओं में रस की सृष्टि हो जाती थी। यह क्रिया स्वाभाविक है और इसमें सहज ही विभावादि व्यंजित हो जाते हैं। अतः यदि रीतिकालीन-रस कवियों के द्वारा सिद्धान्त-सापेक्ष बनाया गया तो भक्तिकालीन-रस सिद्धान्त-निरपेक्ष ही समझना चाहिये। उदाहरण के लिए संत कबीर ने लिखा है:—

अँखियाँ तो झाँई परी, पंथ निहार निहार।

जिभ्या तो छाला परा, नाम पुकार पुकार॥

इस दोहे में केवल आलंबन और अनुभाव के द्वारा ही रस की सृष्टि हो गई। इसी प्रकार:—

जल में बसे कमोदिनी, चंदा बसे अकास,

जो है जाका भावता, सो ताही के पास।

इसमें केवल आलंबन विभाव से ही रस-निष्पत्ति हुई है। इसी प्रकार संत तुलसीदास ने बालकाण्ड में लिखा:—

जाइ समीप राम छबि देखी।

रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी॥

इसमें केवल आलंबन विभाव और अनुभाव से ही शृंगार रस की पूर्ति हुई है। मीराबाई ने प्रेम के स्वर में गाया:—

ऐसे प्रिये जान न दीजें हो।

चलो री सखी ! मिलि राखिए, नैननि रस पीजें हो।

स्याम सलोनो साँवरों मुख देखत जीजें हो।

जोइ जोइ भेष सो हरि मिलें, सोइ सोइ कीजें हो।

मीरां के प्रभु गिरधर नागर बड़ भागन रीजें हो॥

इस पद में केवल अनुभावों पर ही आग्रह है, जिनमें शृंगार रस का उद्रेक हुआ है। इस प्रकार सूरदास, नन्ददास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रस-निष्पत्ति के लिये विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग की अपेक्षा नहीं मानी। ऐसी रस-निष्पत्ति सिद्धान्त-निरपेक्ष है।

आधुनिक युग में पश्चिम के प्रभाव ने हमारे काव्य का लक्ष्य बदल दिया है। जीवन के मूल्यांकन में साहित्यकारों का अधिक विश्वास हो गया है, और मनो-विज्ञान की गहराइयों में जाकर सत्य की समीक्षा ही साहित्य का लक्ष्य बन गया है।

यथार्थवाद ही साहित्य का वास्तविक मापदण्ड है और स्वाभाविकता का प्रत्यक्षीकरण ही साहित्य का सौन्दर्य है। अतिमानवीयता और अतिरंजना साहित्य में दोष है। ऐसी स्थिति में काव्य में रस-निष्पत्ति का कोई महत्व नहीं है। रस-सिद्धान्त के बहिष्कार के कुछ कारण निम्नलिखित हो सकते हैं:—

(१) मनोविज्ञान के विश्लेषण ने हमारे काव्य को विचार-प्रधान बना दिया है और कल्पना ने अनुभूति की अपेक्षा चिन्तन को अधिक प्रश्रय दिया है।

(२) रीतिकालीन-शृंगार-काव्य की प्रतिक्रिया ने रस के समस्त उपादान हमारे काव्य-क्षेत्र से निष्कासित कर दिये हैं।

(३) जीवन की समीक्षा में व्यक्ति प्रधान हो गया है तथा व्यक्तिगत भावनाओं को अधिक प्रश्रय मिला है। व्यक्ति और वस्तु का बोध अधिक होने के कारण रस के साधारणीकरण की भावना का लोप-सा हो गया है।

(४) अध्यात्मवाद का ब्रह्मानन्द ही जब काव्य में न रहा, तो ब्रह्मानन्द-सहोदर 'रस' भी अदृश्य हो गया।

मेरी दृष्टि में 'रस' अमर है। वह काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग अब भी है। जब तक काव्य रहेगा, रस की सृष्टि निरंतर होगी अथवा रस अपनी अभिव्यक्ति के लिये काव्य का शरीर अवश्य ही ग्रहण करेगा। यह बात दूसरी है कि रस अपने अभिव्यक्तीकरण के लिये कोई दूसरी शैली ग्रहण करे। आचार्य द्विवेदी के युग में प्राचीन रस-परंपरा 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' महाकाव्यों में प्राप्त हुई, किन्तु उसके बाद गीतिकाव्य में व्यक्तित्व की प्रधानता हुई और मनोविज्ञान ने काव्य में प्रवेश किया। प्राचीन पारिभाषिक शब्दों में कहा जाय तो आधुनिक हिन्दी काव्य स्थायी-भाव की अपेक्षा संचारी भावों में अधिक प.षित हुआ। सूक्ति-चमत्कारों में भावना का परिचय दिया जाने लगा, किन्तु जैसे ही खड़ी बोली-काव्य के प्रयोग समाप्त हुए 'प्रसाद' और पन्त आदि कवियों ने काव्य में रस की स्थापना पुनः आरंभ की। उन्होंने रस को विभावादि के संयोग का रूप न देकर प्रतीकों का रूप दिया। 'प्रसाद' का समस्त साहित्य रस-वादी साहित्य है। नाटकों और कथा-साहित्य में उन्होंने जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए भी दर्शन के माध्यम से रस की प्रतिष्ठा की। नाटकों में 'स्कन्दगुप्त' और कहानियों में 'आकाशदीप' उनके रस-वाद के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। कामायनी में रस की पूर्ण निष्पत्ति है, किन्तु वह निष्पत्ति हुई है प्रतीकों और रूपकों द्वारा।

इस भाँति रस शाश्वत है, जो हिन्दी में पहले सिद्धान्त-निरपेक्ष रहा, फिर सिद्धान्त-सापेक्ष बना और अब प्रतीकात्मक है। शृंगार का संयोग पक्ष तो रस के मस्तक पर मुकुट की भाँति सुशोभित है।

साहित्य ने जीवन से ही प्रेरणा ग्रहण की है। जीवन का विकास मनोविकारों पर आधारित है और मनोविकार का मूलधार मनोविज्ञान में है। मनोविज्ञान की स्थिति जीवन की अनेकानेक अभिव्यक्तियों

मनोविज्ञान में है और इस प्रकार मनोविज्ञान और साहित्य में साधना और साध्य का सम्बन्ध है। यह साधना प्राचीन काल से ही विविध मनोविकारों में प्रस्फुटित हुई है, और उसीसे साहित्य जीवन का पर्याय बनकर विकासोन्मुखी रहा है। पश्चिम के आलोचकों ने मनोविज्ञान का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से कर उसमें जीवन की प्रेरणाओं का इतिहास स्पष्ट किया है। भारतीय दर्शन में जीवन संस्कार-सम्पन्न है।

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा—एक विधान वाक्य है और इसमें जन्मान्तरवाद का रहस्य निहित है। संचित कर्म ही भाग्य का निर्धारण करते हैं और उन्हीं के अनुसार जीवन का क्रम निर्धारित होता है। इसीलिए हमारे साहित्य में भाग्यवाद ग्रहण किया गया है:—

“भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या न च पौरुषं”

अथवा,

सुनहु भरत भावी प्रबल, विलिखि कह्यो मुनिनाथ,
हानि लाभ जीवन मरन, यश अपयश विधि हाथ

इस भाग्य की मान्यता में ही हमारा जीवन साहित्य में चित्रित हुआ है, यद्यपि पुरुषार्थ के अनेक चित्र भी यथावसर हमारे जीवन की शक्ति स्पष्ट करने में सहायक हुए हैं। भाग्यवाद ने हमारे जीवन में आस्तिकता की सृष्टि की है और इस भाँति साहित्य की आध्यात्मिक परम्परा सभी कालों में सुरक्षित रह सकी है।

यदि जीवन की अज्ञात प्रेरणाओं को थोड़ी देर के लिए भुला दिया जाय, तो हम लौकिक जीवन के स्वाभाविक धरातल पर आ जाते हैं और हमारे हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जीवन की परिस्थितियाँ किन कारणों से निर्मित होती हैं? यहीं से पश्चिम के मनोविज्ञान का क्षेत्र आरंभ होता है और हम जीवन की स्वाभाविकता की ओर आकृष्ट होने लगते हैं, जिसमें कारणों का कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्य में जब जीवन का स्पन्दन आरंभ होता है तो उसमें कुछ संस्कार

स्वयमेव आ जाते हैं। शिशु का स्तन-पान उसी संस्कार का प्रत्यक्ष (Instincts) रूप है। इसे आत्म-रक्षा का संस्कार कहा जा सकता है। इस संस्कार के साथ हर्ष, दुःख और भय का निकट सम्बन्ध है और ये मूल-भाव भी संस्कारों का रूप ग्रहण करते हैं। इन संस्कारों से प्रवृत्तियाँ (Tendencies) विकसित होती हैं। इन प्रवृत्तियों में आवेग (Impulse) प्रादुर्भूत होता है, जो प्रकारान्तर से इन्द्रिया-वेग (Appetites) कहा जा सकता है। इसी इन्द्रियावेग में संवेदनात्मक शक्ति (Feeling) का उदय होता है। संवेदना शक्ति भावना (Emotions) को जन्म देती है और भावना भावातिरेक (Sentiment) में विकसित होती है। इस भाँति मनोविकार संस्कार से चलकर भावातिरेक में सात स्थितियों को पार करता हुआ साहित्य की भाव-भूमि प्रस्तुत करता है। इस भाव-भूमि का आरंभ तो संवेदना शक्ति (Feeling) से ही हो जाता है, जिसमें संस्कार, प्रवृत्ति और आवेग प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहते हैं और परिस्थितियों के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में उभरकर साहित्य के धरातल पर उर्वर हो उठते हैं। मनोविज्ञान-शास्त्र में इस संवेदना का विश्लेषण अनेक प्रकार से किया गया है। मेकडूगल ने अपने ग्रन्थ “एन आउटलाइन ऑफ़ साइकालोजी” में संवेदना को हर्ष (Pleasure) और पीड़ा (Pain) की दो कोटियों में निरूपित किया है।^१ इन दो कोटियों के अन्तर्गत उन्होंने बारह मूलभावों से मन का संगठन माना है—हर्ष, विषाद, अवसाद, निराशा, आश्चर्य, खेद, पश्चात्ताप, विश्वास, आशा, चिन्ता, हताशा, दुराशा। मेरी दृष्टि से ये मूल भाव अपूर्ण मानना चाहिये, क्योंकि इनके अन्तर्गत प्रेम का मूल भाव आया ही नहीं, जो सबसे प्रमुख आत्म-रक्षण के विकसित संस्कार ‘वंश-रक्षा’ से प्रेरित है। उपर्युक्त बारह भाव प्रेम की संश्लिष्ट कोटि में अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार सहज ही समाविष्ट हो सकते हैं। क्योंकि प्रेम का सम्बन्ध रागात्मक वृत्ति से है, जो संवेदना-शक्ति से आविर्भूत होती है। स्टाउट^२ ने संवेदना शक्ति को हर्ष और शोक की कोटि से अधिक व्यापक रूप दिया है, किन्तु इसे जीवन में अन्तर्व्यापी होने का दृष्टिकोण प्रो० जेम्स ने दिया। वस्तुतः प्रो० जेम्स प्राचीन भारतीय चिन्तकों के अनुरूप ही संवेदना-शक्ति की व्याख्या करते हैं। साहित्य में यही संवेदना जीवन के अनन्त चित्र प्रस्तुत करती है। यदि मनुष्य बाह्य जगत् की विभिन्न परिस्थितियों का अनुभव

१ An outline of Psychology—Chap. XII.

२ Analytic Psychology—Stout—Page 121.

करने में असमर्थ है तो वह साहित्य की सृष्टि किस प्रकार कर सकता है ? साहित्य-कार जब विविध पदार्थों और परिस्थितियों को वस्तु-जगत् से ग्रहण कर अंतर्जगत् में लीन करता है तभी वह उन पदार्थों और परिस्थितियों को अधिक व्यापक और प्रभावशाली रूप देकर प्रस्तुत कर सकता है, जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी से जल ग्रहण कर उसे मेघ में परिणत करता है और वायु के प्रवाह में मेघ-माला को अनेक भू-खण्डों के ऊपर वितरित कर स्वच्छ और दोष-रहित जल की वर्षा कर देता है । यह संग्रहण की क्रिया संवेदना-शक्ति के बिना संभव नहीं । इसीलिये साहित्य की प्रारंभिक सृष्टि में ही संवेदना का प्रमुख स्थान है ।

संवेदना-शक्ति भावना का संचार करती है । भावना में जीवन की तरलता है । यदि बुद्धि-वैभव के शिला-खण्ड उसके समक्ष आते भी हैं तो वह उनके ऊपर से बहती हुई मानवता का संगीत मुखरित करती चलती है । बुद्धि-वैभव में तर्क का आग्रह है । उससे सत्य की घोषणा हो सकती है, सत्य की अनुभूति नहीं । यह अनुभूति भावना द्वारा ही संभव हो सकती है । यदि बुद्धि ने इस बात की घोषणा की कि—

नहि असत्य सम पातक पुंजा

तो भावना ने उसी क्षण उसकी अनुभूति उपस्थित करा दी—

गिरि सम होहि कि कोटिक गुंजा

इस प्रकार साहित्य में सत्य की अनुभूति भावना द्वारा ही संभव हो सकी है । संवेदना की प्रेरणा प्राप्त कर यह भावना ही साहित्य के स्थायीभावों की सृष्टि करती है और जीवन की सर्वांग अनुभूति में सहायक होती है । काव्य में भावना का पक्ष अत्यन्त घनीभूत रहता है । उसीसे अनेक परिस्थितियों का मर्मस्पर्शी रूप प्रस्तुत होता है और उसी के द्वारा समस्त सुखी जीवन एक मुस्कान में और समस्त शोकाभिभूत जीवन एक अश्रु में व्यक्त हो सकता है । विलियम मॅकडूगल ने इस भावना में संस्कारगत आवेगों को विशेष महत्व दिया है । स्टाउट ने इस भावना के छः लक्षण उपस्थित किये हैं—

१—भावना अत्यन्त विस्तृत परिधि रखनेवाली मानसिक प्रक्रिया है । सामान्य भौतिक संवेदनशीलता से वह आदर्श भावात्मक परिस्थिति तक पहुँच जाती है । उदाहरण के लिये फ़सल के नष्ट होने से लेकर सगुण भक्ति में आराध्य के रूप-दर्शन की असमर्थता तक निराशा का प्रसार हो सकता है ।

२—भावना के अन्तर्गत परिस्थितियों की अधिक से अधिक विविधता संभव हो सकती है । उदाहरण के लिए क्रोध का मनोभाव अगणित कारणों से उत्पन्न

हो सकता है। अपमान, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति, प्रेम की असफलता, प्रहार आदि अनेक घटनाओं की प्रतिक्रिया क्रोध उत्पन्न करती है और वह क्रोध तब दुधारी तलवार बन जाता है जब वह अपने ही ऊपर आने लगता है।

३—भावना अनियमित भी हो सकती है। उदाहरणार्थ एक ही व्यक्ति अपनी सामान्य दशा में जो बात कहता है उससे बिल्कुल विपरीत बात वह कह सकता है यदि उसने दूसरे ही क्षण मद्य-पान कर लिया हो। ऐसी स्थिति में भावना प्रलाप का रूप ग्रहण कर लेती है।

४—भावना परिस्थितियों में अन्तर्व्यापिनी धारा की भाँति प्रवाहित होती है और उसकी दिशा का निर्धारण समानान्तर परिस्थितियों से ही हो जाता है। उदाहरण के लिए युग की परिस्थितियों से प्रभावित होनेवाले काव्य की सृष्टि यदि विलासजनक परिस्थितियों से होगी तो कविता भी शृंगार रस से परिपूर्ण होगी।

५—भावना प्रतिक्रियात्मक रूप से व्यंजना का रूप ग्रहण कर सकती है, जिससे हमें मूल प्रवृत्ति का पता चल सकता है। उदाहरण के लिए एक अत्यन्त सीधी और सरल स्त्री भी अपने पुत्र पर अत्याचार करनेवाले के प्रति चण्डिका का रूप ग्रहण कर सकती है। उसके इस चण्डी रूप में वात्सल्य की व्यंजना है।

६—भावना अपने घनीभूत रूप में स्थूल पदार्थों में भी परिवर्तन कर देती है। उदाहरणार्थ प्रेम की तल्लीनता में भक्त भी अपने भगवान की भाँति आचरण करने लगता है।

स्टाउट के उपर्युक्त वर्गीकरण में उदाहरण मैंने अपनी ओर से जोड़ दिये हैं। भावना के जो भेद उन्होंने प्रस्तुत किये हैं वे बहुत कुछ स्वतंत्र न होकर एक दूसरे से मिले-जुले हैं। एक वर्ग की प्रक्रिया दूसरे वर्ग में भी संभव है। कुछ वर्ग अनावश्यक भी हैं। इन वर्गों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भावना की विविध परिस्थितियों में विविध दशाएँ हो सकती हैं। यदि हम भावना को जीवन के समानान्तर गति रखने वाली संवेदना-शक्ति मानें तो भावनाओं का परिगणन असाध्य होगा, क्योंकि जीवन की जितनी भी अभिव्यक्तियाँ होंगी उनका ग्रहण भावनाओं से संभव नहीं हो सकता।

भावातिरेक—भावना जब विशिष्ट परिस्थितियों में घनीभूत होकर अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करती हुई आवेग की सहचारिणी हो जाती है तो वह 'भावातिरेक' की संज्ञा ग्रहण करती है। इस आवेग में भी भावना के घनीभूत रूप का एक सन्तुलित विस्तार होता है। संभवतः इसीलिये ए. एफ. शेण्ड ने इसे भावना का सुसंगठित विन्यास ('organised system') माना है। मेक्डूगल ने भी इसका

समर्थन किया है। आर. एस. वूडवर्थ ने अपने ग्रन्थ “साइकोलाजी” में इसे सम्मिश्रित भावनात्मक दृष्टिकोण (Complex emotional attitude) माना है। वस्तुतः इस मनोभाव में विभिन्न भावनाएँ आकर सिमिट जाती हैं और उनकी पारस्परिक प्रतिक्रियाएँ आवेग के सहचार से भावनातिरेक में निष्पन्न होती हैं। किन्तु यह भी संभव हो सकता है कि एक भावना किसी विशेष परिस्थिति में व्यावर्तित होकर आपसे आप आवेग में गतिशील होती हुई भावनातिरेक में परिवर्तित हो जाय। इस प्रकार भावना की अतिरेकता अनेक भावनाओं से संभव है तथा एक ही भावना की विभिन्न परिस्थितियों से प्राप्त है। काव्य के क्षेत्र में यदि भावना महाकाव्य को जन्म देती है, तो भावनातिरेक गीतिकाव्य को जन्म देता है। यद्यपि जिस प्रकार महाकाव्य में भावनातिरेक संभव है, उसी प्रकार गीतिकाव्य में भावना भी, किन्तु सामान्य रूप से भावनातिरेक व्यक्ति और परिस्थिति से संबंध रखता है और भावना समष्टि एवं परिस्थिति से। हमारे आचार्यों ने इसी भावातिरेक में उन स्थायी भावों को निर्धारित किया है, जिनसे रस-निष्पत्ति में सहायता मिलती है।

पश्चिम के चिन्तकों ने इस भावातिरेक का सम्बन्ध मनोविज्ञान से मान कर उसकी स्थिति जीवन के लौकिक विस्तार में ही उचित समझी है।

यदि दोनों दृष्टिकोणों की तुलना की जाय तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि जहाँ भारतीय आचार्यों ने काव्य को संवेदना, भावना और भावनातिरेक के आश्रय से लोकोत्तर जीवन की आनन्दानुभूति में परिणत किया है, वहाँ पश्चिम के चिन्तकों ने उपर्युक्त तीनों भावों को लौकिक जीवन के विश्लेषण में हर्ष और शोक में विभाजित कर दिया है। हम इन भावों को समष्टि के अवयवों के रूप में मानते हैं। पश्चिम में इनको व्यष्टिगत प्राधान्य दिया गया है। ये स्वयं जीवनगत अभिव्यक्ति के अंश न होकर अंशी बन गये हैं। इनका लक्ष्य केवल अपनी अभिव्यक्ति-मात्र कर लेने में है। वे उससे आगे चलकर किसी अलौकिक क्षेत्र में पहुँचकर रस जैसी अनुभूति उत्पन्न करने की दृष्टि नहीं रखते। हमारे जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति चाहे वह हर्षमय हो या शोकमय, अथवा जीवन के किसी भी आवेग से उसका सम्बन्ध हो, सदैव अपने गन्तव्य आनन्द की ओर अग्रसर होती है, क्योंकि प्रवृत्तमान होकर भी हम संसार के सुख-दुःख से ऊपर उठकर अपने आत्मगत संस्कारों का परिष्कार करना चाहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान जीवन की लौकिक उद्भावनाओं से संपुष्ट है। वह जीवन की वास्तविकता का निर्देशक है। नाटक या उपन्यास में जब किसी चरित्र की सृष्टि होती है तो नाटककार को उसके मानसिक धरातल के पर्यवेक्षण की आवश्यकता होती है। पात्र के व्यक्तिगत जीवन में कौन से आवेग हैं, जो उसके स्वाभाविक

संस्कार का रूप ग्रहण करते हैं ? जब उन संस्कारों के समक्ष सांसारिक परिस्थितियाँ आती हैं, तो उन पर किस प्रकार की क्रिया या प्रतिक्रिया होती है ? जब प्रतिक्रिया होती है तो अन्तर्द्वन्द्व का सौन्दर्य स्पष्ट होता है। इस अन्तर्द्वन्द्व में जीवन की परिणति किस दिशा में होनी चाहिये, इसका निर्णय पात्र के जीवन के संस्कारों अथवा प्रभावों के सापेक्ष अनुपात पर ही निर्भर है। इसका वास्तविक निरूपण तभी संभव हो सकता है जब लेखक को मनो-विज्ञान के साथ बाह्य जगत् की परिस्थितियों के जीवनगत प्रभावों की पूरी जानकारी हो। इससे मानव जीवन का सत्य अनेक रूपों में प्रकट होता है और चरित्र की व्याख्या संसार के मूल्यों द्वारा आँकी जा सकती है। इस भाँति सांसारिक परिस्थितियों एवं मानव के चरित्रों की व्याख्या इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बड़ी सरलता से संभव है। साहित्य के क्षेत्र में इसी मनोविज्ञान का आश्रय आधुनिक लेखकों की प्रतिभा का सूचक बना हुआ है। यह इस भौतिक जगत् की व्याख्या का सर्वमान्य रूप है।

साहित्य के मूल में रस को महत्व देने से हमें लौकिक जीवन की वस्तुवादी व्याख्या कम देखने को मिलती है, क्योंकि रस इस वस्तुवादी जीवन के परे एक विशिष्ट आदर्श में विश्वास रखता है। जीवन में प्रतिदिन घटित होनेवाली परिस्थितियाँ तो लहर की तरह बार बार बनती और बिगड़ती हैं। उनका कोई स्थायी महत्व नहीं है। स्थायी महत्व तो सरिता की प्रचण्ड धारा के समान बहनेवाले हमारे जीवनगत लक्ष्य का है। उसमें मानवता का इष्ट है। पश्चिम का लेखक बुद्बुद् की भाँति उठनेवाली घटनाओं को प्रवाह से अधिक महत्व दे देता है और जीवन की हलकी से हलकी अनुभूति को वह स्वाभाविकता के आग्रह से प्रस्तुत करने में सचेष्ट एवं प्रयत्नशील रहता है। भारतीय लेखक स्वाभाविकता का इतना आग्रह नहीं मानता क्योंकि वह लौकिक जीवन को आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं देता। फलतः किन्हीं विशिष्ट नैतिक आदर्शों में वह जीवन को प्रगतिशील करना चाहता है और ऐसे वातावरण में साँस लेना चाहता है, जिसमें साहित्य समस्त मानवता का कल्याण-विधायक है।

सप्तम प्रकरण

अलिखित-साहित्य

लिखित साहित्य से अलिखित साहित्य का महत्त्व कम नहीं है। यह अलिखित साहित्य शताब्दियों से लोक-गाथा के रूप में प्रचलित है और जन-जन की वाणी में मुखरित होता रहा है। यद्यपि यह लौकिक जीवन से प्रेरित हुआ है तथापि इसमें एक ऐसी आदर्श-निष्ठा है जो समाज को शताब्दियों तक स्थिर रखने में सहायक हुई है। इसे हम लोक-जीवन और लोकोत्तर जीवन की संधि का साहित्य मान सकते हैं। न्याय-भावना के विकास के संदर्भ में इस लोक-साहित्य की ओर संकेत किया गया है जिसमें अनेकानेक जन-श्रुतियाँ सम्मिलित हैं। वे प्रतीक और रूपकों के माध्यम से प्रकृति के साथ हमारा रागात्मक संबंध स्थापित कराती हैं। इस रागात्मक संबंध में 'प्रेम' का सबसे अधिक महत्त्व है। इसके द्वारा जहाँ हम अपने पारस्परिक संबंधों में जीवन के सौन्दर्य का अवलोकन करते हैं, वहाँ उसमें ईश्वरीय प्रेरणा समझकर हम अपनी वासनाओं से ऊपर उठते हैं।

प्रेम सृष्टि की प्रथम प्रेरणाओं में है। यह उतना ही स्वस्थ और अभिनन्दनीय है जितना युद्ध। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रेम संपोषक है और युद्ध विनाशक। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि प्रेम की स्वस्थ भावना पर प्रश्न-चिन्ह लगाकर उसे विनाश की संभावनाओं से जोड़ दिया गया है। यह मनोवृत्ति अस्वस्थ शरीर और निर्बल मन की परिचायिका है। पथ्य पर रहनेवाला रोगी बादाम नहीं खा सकता। वस्तुतः हम वासना को प्रेम से पहले रख देते हैं और वासना की छाया से प्रेम को इस प्रकार ढक देते हैं, जिस प्रकार राहु की छाया से चन्द्र की उज्ज्वल कलाएँ काली हो जाती हैं। प्रेम में जब अन्धकार मिल जाता है, तब वही वासना बन जाता है, यों प्रेम अपने वास्तविक स्वरूप में जीवन की सबसे अधिक प्रेरक शक्ति है।

इसी प्रेरक शक्ति ने लोक-गाथाओं को जन्म दिया है। ग्राम्य-जीवन के स्वस्थ वातावरण में लोक-गाथाओं के द्वारा प्रेम ने आत्मा की आग्रहमयी अनुरक्ति के अनेक

चित्र उपस्थित किए हैं। जीवन में उमंगों के साथ तरंगें भी हैं; और इन्हीं में दो प्राण—दो शरीर—दो संसार—आन्दोलित हुए हैं। इस युगल भाव-विलास में प्रेम ने उत्सव का रूप धारण किया है और वह प्रेम अन्तःकरण की पुकार बनकर शताब्दियों के श्यामल पथ पर कोकिल का कूजन-सा बनकर गूँज गया है। दो शरीर, अन्तःकरण की अनुरक्ति के सूत्र में बँधकर, समाज और परिस्थिति की अवहेलना करते हुए—पहाड़ों, नदियों और मरुस्थलों की दूरी लाँघते हुए एक हो गए हैं और इस प्रेम के पूर्वार्ध का उपहास और व्यंग्य, उत्तरार्ध की श्रद्धा और अभिनन्दन में परिणत हो गया है।

इन लोक-गाथाओं में जीवन की स्वाभाविक प्रेरणाएँ हैं, जो प्रकृति के प्रशांत वातावरण में निर्झर की भाँति उमड़ पड़ती हैं। हृदय की ईश्वरीय विभूतियाँ अपने सहज सौन्दर्य से दिव्य आलोक विकीर्ण करती हुई मानवता की अभिव्यक्ति में महायक हुई हैं। इनमें सहज सहानुभूति है, स्वस्थ संवेदना है और प्राकृतिक वातावरण की सहायता से सशक्त वैभव है। इनमें बुद्धि-वैभव भले ही न हो; तथापि इनमें भावना की ऐसी विभूति है कि वह जीवन के भीषण वनों को तपोवनों में परिणत कर देती है।

दृष्टिकोण

इन लोक-गाथाओं में सबसे बड़ी बात यह है कि ये हमारे सामने जातीय संस्कृति का अनुपम चित्र उपस्थित करती हैं। इनके द्वारा किसी युग-विशेष की समस्त परंपराएँ अपने स्वाभाविक क्रिया-कलाप में स्पष्ट हो उठती हैं। ये परंपराएँ उत्सव, त्यौहार और मंगलमय आचारों की हृदयग्राही भावनाओं और उनकी स्मृतियों से जीवन की अनुभूति को और भी सरस बना देती हैं। प्रत्येक मंगलमय त्यौहार और उत्सव, संयोग या वियोग में प्रेम का आश्रय पाकर भावनाओं के अत्यन्त समीप आ जाता है। और तब हम अनुभव करते हैं कि हमारी परंपराएँ जीवन की कितनी गहराई से उठी हैं और उनके निर्माण में कितनी जातीयता या संगठन की भावना है। उन्हीं विचारों से पोषित होकर हमारे नायकों या नायिकाओं ने एक ऐसे आचरण का परिचय दिया है जो समय की अवहेलना करते हुए सर्वयुगीन हो गया है।

लोक-गीतों का वातावरण सम्पूर्णतः प्रकृति के सत्, चित् आनन्दमय रूप से निर्मित होता है। उनमें प्रकृति स्वयं एक सजीव प्राणी की तरह काम करती है।

कभी तो वह सहायक मित्र की भाँति संयोग में उद्दीपन का कार्य करती हुई, नायक या नायिका की सुख-श्री का विवर्द्धन करती है और कभी सपत्नी या ईष्णालु व्यक्ति की भाँति वियोग में हृदय को और भी अधिक संतप्त करती है। इस प्रकार प्रकृति में जीवन की समस्त गतिशीलता आकर समा जाती है। प्रकृति के दृश्यों की संख्या भावनाओं की भाँति ही अपरिमित है। उसमें विविध प्रकार की ऋतुएँ हैं, जो मानव-मन की संपोषिका या दाहिका है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर की अपनी अलग-अलग रूप-रेखाएँ हैं और प्रत्येक में एक नवीन भंसार है। लोक-गीतों में “बारहमासा” इन्हीं ऋतुओं के स्वभाव और प्रभाव पर चलता है।

प्रकृति के प्रत्येक रूप-परिवर्तन पर मन में जो भावनाओं का आरोह होता है, वह लोक-गीतों के वातावरण की सृष्टि करता है। वसन्त में पुष्पों का विकास और उनकी सुगंधि, शीतल मंद समीर, और चारों ओर तरु-लताओं की नवीनता, ग्रीष्म में पृथ्वी और आकाश में ज्वाला, पशु-पक्षियों तक को छाँह की खोज, वर्षा में घटाओं की छटा और झमाके का पानी, शरद में शीनलता और खंजन के दर्शन, हेमन्त में तुषार और शीतल पवन, तथा शिशिर में दिनमान की न्यूनता, चक्रवाक-चक्रवाकी की व्यथा और शीत की अधिकता प्रेमकथा की अनुरजित इतिवृत्तात्मकता में विशेष हृदय-ग्राहिणी हो जाती है। इस प्रकार मानव-जीवन का प्रकृति के साथ इतना अविच्छिन्न संबंध हो जाता है कि अनुभव की प्रत्येक परिस्थिति में प्रकृति सहचरी की भाँति सामने खड़ी हो जाती है।

लोक-गाथा के काव्य में जीवन के सरल संस्कार प्रचुर मात्रा में वर्तमान रहते हैं। उसमें न तो जीवन की कृत्रिमता रहती है और न मनोभावों का ऊहापोह।

मनुष्य के हृदय में जीवन की जो नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ जीवन के सरल संस्कार रहती हैं—आत्मीयता, बन्धुत्व की भावना, प्रेम, घृणा, अनुराग, विराग और अपनी प्रबल इच्छा के लिये आत्मोत्सर्ग—वे सभी अत्यन्त स्वाभाविक घटनाओं के साथ जोड़कर लोक-गीतों में प्रस्तुत की जाती हैं। उनमें न तो जीवन को बन्धनों का जाल बनाया जाता है और न अवरोधों से हृदय को छद्मवेशी होने दिया जाता है। यही कारण है कि पुरुष अपने संपूर्ण पुरुषत्व से और नारी अपने संपूर्ण नारीत्व से समाज के सामने उपस्थित होती है। व्यक्तित्व में जितनी ईमानदारी होती है, उतनी ही मनोभावों में भी। इसीलिए इस प्रकार के गीत विश्वव्यापी संवेदना से संवलित रहते हैं। इस संवेदना में जनता की परंपरा से चले आये विश्वास भी विशेष रूप से प्रयुक्त

होते हैं। व्यक्ति की इन नैसर्गिक प्रवृत्तियों और विश्वासों के कारण पात्रों के चरित्र-चित्रण में जो सजीवता आ जाती है, वह पत्थर पर खिंची हुई लकीर की भाँति अमिट और गहरी रहती है। इस चरित्र-चित्रण में भावनाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण भले ही न हो, किन्तु मानवता के जिस पक्ष का चित्रण हमें मिलता है, वह हमारी नैसर्गिक शक्ति-शालीनता का बोधक अवश्य ही होता है।

इन लोक-गीतों में यद्यपि काव्य को सूक्ष्म और आश्चर्यजनक अलंकारिकता नहीं रहती तथापि इनमें भाषा की अत्यन्त ओजस्विनी शक्ति रहती है। यह

साहित्य परंपरा का साहित्य है और अनेक शताब्दियों

राष्ट्र का तरल साहित्य से यह सहस्रों और लक्षों मुखों से परिष्कृत और संशोधित तथा संवर्द्धित होकर हमारे सामने आया है।

अतः इसमें निरक्षर और ग्रामीण जनता का हृदय अपनी स्वतंत्र कंठ-ध्वनि लेकर समय की कसौटी पर कंचन की टेढ़ी रेख की भाँति स्पष्ट है। उस रेखा में ज्यामिति के सिद्धान्त भले ही न उतर पाते हों, पर उसमें जो चमक है, उससे किसी को नकली होने का संदेह हो ही नहीं सकता। ये लोक-गीत जनता के हृदय के सच्चे प्रतिबिम्ब हैं जो साहित्य के विधानों के भीतर नहीं आ सके, किन्तु शताब्दियों से मनुष्य हृदय के साक्षी बनकर गाँवों गाँवों के वायु-मण्डल में सदैव के लिए सुरक्षित हुए हैं। हमने अपनी बौद्धिक अहंमन्यता में इन ग्राम-गीतों को भले ही भुला दिया हो, किन्तु इन्होंने ही सच्चे भारतीय हृदय का निर्माण किया है, और इन्हीं की ध्वनियों से हमारे पूर्वजों के हृदय में रक्त का स्पन्दन हुआ है। यदि जनता से हमें अपने साहित्य को सम्बद्ध रखना है, तो हमें इस तरल साहित्य का पूरा उपयोग करना होगा।

इस साहित्य की एक विशेषता यह भी है कि यह गीतात्मक है। जहाँ संगीत के योग से यह साहित्य हृदय की रागात्मक प्रवृत्तियों को अपनी ओर आकर्षित करने में

समर्थ हुआ है, वहाँ यह हृदय की कोमल भावनाओं

गीतात्मकता

को भी व्यंजित करने में बहुत सफल हुआ। संगीत से संयुक्त होने के कारण ये गीत स्मृति में भी अधिक

सुविधा के साथ सुरक्षित किये गये और एक परंपरा से दूसरी परंपरा तक सरलता के साथ हस्तांतरित किये गये। उत्सवों और मंगलमय अवसरों पर ये गीत नृत्य के साथ मिलकर जनता के मनोरंजन और शिक्षा के साधन भी बने रहे। इस प्रकार संगीत ने इन लोकगाथाओं को अभिनयात्मकता भी प्रदान की और ये इतिवृत्त न केवल जनता के कंठ में ही रहे, वरन् उनके नेत्रों के समक्ष साकार भी हुए। भारत में संगीत प्राचीन काल से जनता के कंठ और हृदय की सम्पत्ति रहा है और इसने

हमारे जीवन के अनेक क्षेत्रों में नाद-ब्रह्म की भावना प्रतिष्ठित की है। इसीलिए हमारे गीतों में एक ऐसी पवित्रता निवास करती है, जो हृदय को परिकृष्ट कर 'शिवत्व' के पथ पर अग्रसर करने में सहायक होती है।

लोक-गाथाओं का रचयिता कौन है ? ये किसके द्वारा सर्वप्रथम लिपि-बद्ध किए गए ? इन प्रश्नों के उत्तर देने में समस्त परंपराएँ मौन हैं। जीवन की इतनी

अधिक एवं सरस अभिव्यक्ति करनेवाले व्यक्ति का रचयिता का आत्म-गोपन साहित्य के लिये यह कितना बड़ा उत्सर्ग है कि वह अपने गीत या इतिवृत्त के किसी भाग में अपना नाम तक नहीं देता और जनता के हाथों अपनी समस्त रचना सौंप देता है ! साहित्य के लिए इतना बड़ा त्याग करने की क्षमता किस व्यक्ति में है ? देखा यह जाता है कि “यशःप्रार्थी कविगण” दूसरे की रचनाओं को ‘सफ़ाई’ से हस्तगत कर उसे अपनी बना लेते हैं। इसी भय से तो ‘सेनापति’ और उनके परवर्ती कवियों को अपने प्रत्येक कवित्त में नाम की छाप डालनी पड़ी, जिससे कोई उन रचनाओं पर अपना ‘हाथ साफ़’ न कर सके। किन्तु इन अज्ञात कवियों ने बिना किसी स्वार्थ या आत्म-प्रशंसा के अपनी प्रतिभा की संपत्ति जनता-जनार्दन की सेवा में अर्पित कर दी। संभव है, लोक-गीत किसी एक व्यक्ति की रचना न हो। किसी उत्सव के अवसर पर किसी ‘मण्डली’ ने उसकी रचना की हो, फिर भी रचयिता की संज्ञा तो उस विशेष मण्डली को मिलनी ही चाहिए। किन्तु लोक-गीतों की परम्परा में रचयिताओं के नाम प्रायः अज्ञात ही रहते हैं। बाद में किसी व्यक्ति ने उन लोक-गीतों को एकत्रित कर संशोधन और परिवर्द्धन के साथ प्रकाशित कर दिया हो जैसा कि “ढोला मारू” और “माधवानल कामकंदला” के प्रकाशित इतिवृत्तों से ज्ञात होता है।

इन लोक-गाथाओं के रचयिताओं के अज्ञात नामों के साथ इनके रचना-काल का पता पाना भी कठिन है। शताब्दियों की अनेक परंपराओं में से होते हुए इन लोक-गाथाओं की रचना कब हुई, इसका कोई

अज्ञात रचना-तिथि ऐतिहासिक उल्लेख भी नहीं मिलता। इन लोक-गाथाओं में विविध युगों के संस्कार जुड़ते चले आये हैं, विविध युगों की भाषाएँ समाविष्ट होती चली आई हैं और उन पर विविध शैलियों की छाप पड़ती चली गई है। इसीलिये हम इस साहित्य को तरल साहित्य कहते हैं, जो धुंधले इतिहास के वनान्तर से एक विशाल नद की भाँति न जाने कब से

प्रवाहित होता चला आया है। यह जन-साहित्य है और जन-साहित्य की रूपरेखा जनता के मनोभावों की समष्टि ही कही जा सकती है।

लोक-गाथाओं में जहाँ जीवन के सरल संस्कारों से ओत-प्रोत प्रेम-कथा का विस्तार रहता है, वहाँ उसमें सात्विक संस्कारों के कारण हृदय की सहानुभूति भी जुड़ी रहती है। जनता की सहानुभूति प्राप्त कर नायक

अलौकिक प्रभाव

और नायिका समाज के बन्धनों का विरोध करते हुए अपने आत्मिक संबंध के पथ पर बढ़ते जाते हैं; किन्तु एक स्थल ऐसा भी आता है, जब संसार की कोई भौतिक शक्ति उनकी उलझनों को मुलझाने में असमर्थ रहती है। तब यह आवश्यक हो जाता है कि कोई दैवी शक्ति अपने अलौकिक चमत्कार या युक्ति से उस उलझन को दूर कर दे। एक क्षण में ही समस्त कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और नायक तथा नायिका मिलकर अपने बपों के विरह को एक क्षण में भूल जाते हैं। उनमें मिलाप होता है और वे श्रोताओं के हृदय की सहानुभूति में आनन्द की सृष्टि करते हुए जनता की स्मृति में अमर हो जाते हैं। अलौकिक प्रभावों में कभी प्रकृति के देवता, स्वर्ग की देवियाँ और कभी स्वयं भगवान् अवतरित होते हैं। इन बातों से जनता का विश्वास अपने धर्म पर और अधिक जम जाता है, और वह सोचने लगती है कि जब कभी हम पर भी संकट पड़ेगा, तो ईश्वर हमारी सहायता के लिए इस पृथ्वी पर अवतरित होगा। इस प्रकार इन लोक-गाथाओं से जहाँ मनोरंजन की सृष्टि होती है, वहाँ धर्म के प्रति श्रद्धा का भाव भी उदय होता है।

लोक-गाथाओं में एक विशिष्ट बात यह भी होती है कि मनुष्य के अनुराग-विराग की भावनाओं से अमानव संसार भी प्रभावित होता है। प्रायः देखा जाता है

कि नायक या नायिका के कष्टों में पशु-पक्षी भी मानव और अमानव का सहायता करने लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। मनुष्य सम्बन्ध और ऊँट में बातचीत होती है या तोता मनुष्य

का पथ-प्रदर्शन करता हुआ प्रेमी या प्रेमिका की खोज में प्रयत्नशील होता है। हमारी पौराणिक कथाओं में दमयन्ती और नल के विवाह में पत्र-वाहक या प्रशंसा करने में निपुण हंस का कितना अधिक योग रहा है। इस अमानव जगत् से इतने निकट संबंध की भावना प्रस्तुत करने का प्रमुख कारण यही है कि मनुष्य ने प्रकृति की गोद में रहकर उसकी एक एक वस्तु से अपनी आत्मीयता स्थापित कर रखी थी। आज हम नागरिक हैं। हम अपने मकान से दो तीन मील दूर तक कोई प्रकृति की रम्य

क्रीडास्थली नहीं देखते । हम अपनी सभ्यता में नागरिकता का दंभ भरते हुए आज पशु-पक्षियों तक को नहीं पहिचानते । एक विद्यार्थी विदेशी शेक्सपियर के समस्त ग्रंथ पढ़कर अपनी विद्वत्ता की घोषणा करता है, किन्तु अपने ही देश में चारों तरफ फूलने-फलने वाले पेड़ों और पौधों को नहीं पहिचानता । विशेष-कर जब हमारा देश कृषि-प्रधान है तब हमें तो अपनी प्रकृति से पूर्ण परिचिन होना चाहिए । हमारे देश को प्रकृति ने जिस प्रकार सँवारा है, उस प्रकार संसार के किसी भी देश को नहीं । फिर भी हमने अपना संबंध प्रकृति से पूर्ण रूप से तोड़ रखा है । हम ग्रामों में जाना या ग्राम-गीत स्मरण रखना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं । गाँवों में सिनेमा या नाटकघर नहीं है । हमने अपने मनोरंजन को ऐन्द्रियक ही बना रखा है । बीमार होने पर हम ग्राम की शुद्ध वायु के सेवन में विश्वास न रखकर अस्प-तालों के वार्डों में रहना अधिक पसन्द करते हैं । लोक-गाथात्मक साहित्य के रक्षण और विकास के लिये आज हमारी नागरिकता अभिशाप बन गई है । इन पाश्चात्य संस्कारों से रहित हमारे सौभाग्यशाली देशवासियों ने प्रकृति के पत्ते-पत्ते से और कलरवकारी पक्षियों से आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित कर लिया था । उससे हमने ऐसी विश्व-बन्धुत्व की भावना को जन्म दिया था जिसमें समस्त संसार एक ही सत्ता से संचालित होता था, मानव और अमानव का कोई भेद नहीं था । यह सत्, चित्, आनन्द की अनुभूति का सर्वप्रथम सोपान था ।

लोक-गाथाओं में उपर्युक्त परिस्थितियों के साथ कुछ व्यक्तिगत और पारस्परिक परिस्थितियाँ भी समान रूप से वर्तमान रहती हैं । उदाहरण के लिये नायक और नायिका में पूर्वानुराग, नायिका के प्रति सपत्नी का ईर्ष्या और द्वेष-भाव, नायिका का वियोग और बारहमासा, समाज का व्यवधान, दुर्घटनाएँ, नायक के चरित्र में साहस और आश्चर्यजनक वीरता । इन सभी परिस्थितियों में भाग्यवाद का प्रबल आतंक भी पाया जाता है ।

लोक-गाथाओं की भाषा ग्राम्य वातावरण के कारण सदैव ही जनपदीय रही है । इस भाषा में वर्णनात्मकता और भाषा का बड़ा ही स्वाभाविक रूप है । जैसा पहले कहा जा चुका है, इसमें आलंकारिकता और पद-लालित्य के लिए कोई स्थान नहीं है । विचारों की प्रौढ़ता, निभीकता और प्रबल अभिव्यंजक शक्ति इस प्रकार की भाषा की विशेषता है । जिन भाषाओं में लोक-गीत प्रायः मिलते हैं वे भाषाएँ हैं—राजस्थानी, पंजाबी, मैथिली, अवधी, बुन्देलखण्डी, बघेलखण्डी और भोजपुरी। अन्य भाषाओं में भी लोक-गीत मिलते हैं, किन्तु वे गीत अधिक प्रचार या लोक-

भाषा

प्रियता प्राप्त नहीं कर सके। जिन गीतों को देशव्यापी विस्तार मिला है, वे हैं, ढोला मारू, हीर-राँझा, माधवानल-कामकंदला। ढोला मारू राजस्थानी में है, हीर-राँझा पंजाबी में और माधवानल-कामकंदला अवधी और बुंदेली में। इनके अतिरिक्त मैथिली और छत्तीसगढ़ी में अनेक इतिवृत्तात्मक कथाएँ मिलती हैं।

यह स्पष्ट है कि जैन साहित्य में संसार के प्रति वैराग्य भावना को पुष्ट करने के लिये अनेक इतिवृत्त लिखे जाने लगे थे। ये सब इतिवृत्त पहले संसार के भौतिक प्रेम से प्रारंभ होते थे और

लोक साहित्य का महत्व अन्त में संसार के संघर्षों से उस भौतिक प्रेम की निस्सारता स्पष्ट की जाती थी। जीवन का संकट, यौवन का अवसान और स्वार्थी व्यक्तियों की कपट-मैत्री अन्त में झलक उठती थी और प्रेमी के मन में संसार के माया-मोह से ऐसी प्रतिक्रिया होती थी कि वह वैराग्य की ओर झुकता था और अन्त में किसी मुनि से दीक्षा लेकर वह वनान्तर में तपस्या करने चला जाता था। ये सब 'चरित्र' अपभ्रंश से निकलती हुई जनभाषा में लिखे जाते थे और जनता को उपदेश देने में इनका प्रमुख उद्देश्य रहा करता था। जैन साहित्य में यों 'हरिवंश' और 'रामायण' की कथाएँ भी अपनी रूपान्तरित शैली में लिखी गई थीं, किन्तु इन्हीं इतिवृत्तों के साथ सांसारिक आकर्षणों की निस्सारता दिखलाने के लिए प्रेम-कथाएँ भी लिखी गई, जिनका उद्देश्य एकमात्र आध्यात्मिक और वैराग्य-परक हुआ करता था। 'सुदसग चरित' ऐसी ही एक प्रेमकथा है, जिसमें सुदर्शन नामक एक ब्राम्हण के प्रेम में आमूल परिवर्तन हुआ और वह अन्त में वैराग्य लेकर तपस्या में लीन हुआ। तेरहवीं शताब्दी के लगभग साहित्य में यह कथात्मक शैली प्रारंभ हो गई थी। एक बार यह शैली प्रचलित होने पर जनता के मनोभावों से शासित होकर अपना विकास कर चली। धीरे धीरे इसका वैराग्य-परक या आध्यात्मिक दृष्टिकोण लोप होने लगा और यह एकमात्र लौकिक कथा बन कर रह गई। इस प्रेम-कथा-साहित्य में जीवन अपनी संपूर्ण लौकिकता के साथ प्रवेश करने लगा और उसमें उन सभी दृष्टिकोणों का समावेश हो गया जिनका उल्लेख अन्यत्र विस्तार से किया गया है। ये प्रेम-कथाएँ सोलहवीं शताब्दी तक चलती रहीं। सोलहवीं शताब्दी में सूफी सन्तों ने इन्हीं प्रेमकथाओं की शैली लेकर इसमें अपने सूफी सिद्धान्तों का समावेश करना प्रारंभ कर दिया और प्रेमाख्यानक काव्यों की सृष्टि की। हमारे हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रेमाख्यानक काव्यों की कोई पूर्व-पीठिका नहीं दी गई। किस प्रकार सूफी सन्तों ने कबीर आदि सन्तों की पद-शैली के बीच में से दोहा-चौपाई की इतिवृत्तात्मक प्रेमकथा-शैली का विकास किया, इसका हमें कोई विवरण

नहीं मिलता। वास्तविक वस्तु-स्थिति तो यह है कि इन लोक-गाथाओं का प्रारंभ जैन कवियों की वैराग्यपरक रचनाओं से प्रारंभ हुआ, लौकिक प्रेम-कथाओं में इनका पूर्ण उत्कर्ष हुआ और प्रेमाख्यानक काव्यों में इनका पर्यवसान। इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी से लेकर अठ्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी तक यह प्रेम-कथा की शैली किञ्चित् परिवर्तन, परिष्करण और परिवर्द्धन के साथ बराबर चलती रही और इस शृंखला का पहला छोर सन्धिकाल और दूसरा कला-काल से था। इस समय से लेकर प्रबुद्ध काल तक यह शृंखला सुसंस्कृत बौद्धिक तत्त्व से मिलकर सुमित्रानन्दन पन्त की 'ग्रन्थि' नामक काव्य-कथा तक दीख पड़ती है।

साहित्य के लिखित और अलिखित दोनों रूपों में मानव-जीवन अपनी सहज अभिव्यक्ति में मनोविज्ञान या रस के आश्रय से प्रस्फुटित होता है।

अष्टम प्रकरण

साहित्य का प्रयोजन और इष्ट

साहित्य के सभी अंगों पर विचार करने के उपरान्त यह भी विचार करना आवश्यक है कि साहित्य के मूल में सृजनात्मक शक्ति क्यों और किस प्रकार संभव है। इसीमें उसका प्रयोजन और इष्ट दृष्टिगत हो आत्मा की अभिव्यक्ति मकता है। इस विषय पर भारत और पश्चिम के चिन्तकों के मत विविध कारणों का निर्देश करते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—

‘अयमात्मा वाङ्मयाः मनोमयाः प्राणमयाः’

इसमें यह ज्ञात होता है कि आत्मा, वाङ्मय रूप से प्रकट होती है, यही मनोमय और प्राणमय है। इस भाँति वाणी ही हमारे सम्पूर्ण जीवन के मन और प्राण का प्रतिनिधित्व करती है। यही वाङ्मय हमारे साहित्य का रूप ग्रहण करता है।

मम्मट अपने ‘काव्य-प्रकाश’ के तीसरे श्लोक की कारिका में लिखते हैं—

शक्तिः कवित्व बीजरूपः संस्कारविशेषः ।

यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् ।

अर्थात् कवित्व की सृष्टि किसी संस्कार-विशेष अर्थात् प्रतिभा से संभव है। यही बीज रूप कारण है, जिसके बिना काव्य की सृष्टि संभव नहीं है। यदि सृष्टि हो भी जाय, तो वह हास्यास्पद होगी।” इस भाँति साहित्य-रचना का मूल कारण वह प्रतिभा है, जो संस्कारजन्य है। यदि वह संस्कार न हो तो साहित्य-रचना असंभव है। यही कारण है कि सभी विद्वान्, लेखक या कवि नहीं हो सकते। इस साहित्य-रचना की शक्ति के साथ लोक और शास्त्र के निरीक्षण का चातुर्य भी अपेक्षित है। इसके उपरान्त साहित्यज्ञों द्वारा शिक्षा पाकर उसका अभ्यास भी आवश्यक है—

“शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥”

यही बात पंडितराज जगन्नाथ ने अपने “रस गंगाधर” में व्यक्त की है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों का समष्टि रूप (काव्य) साहित्य-रचना का मूल कारण है। प्रतिभा से जो भाव उत्पन्न होता है, व्युत्पादिका शक्ति से उसमें नैपुण्य आता है और अभ्यास से उसमें उत्तरोत्तर चमत्कार की प्रतिभा आती है। इसका उपयोग अनेक उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है। आचार्य मम्मट कहते हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यःपरनिवृत्तये कान्तसम्मिमततथोपदेश युजे॥

अर्थात्—इस काव्य या साहित्य के द्वारा यशार्जन, धन की प्राप्ति, समाजगत व्यवहार का ज्ञान, विपत्ति का विनाश, लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति तथा प्रियतमा के समान सुखद उपदेश की प्राप्ति संभव है।

उदाहरण देते हुए इन विविध इष्टों के अन्तर्गत कवियों के नाम भी परिगणित कर दिये गये हैं। कालिदास ने यश की प्राप्ति

विविध दृष्टियाँ की, श्री हर्ष ने संपत्ति अर्जित की, आचरण, शिक्षा और विपत्तियों का विनाश मयूर कवि के जीवन में

घटित हुआ। इसी को ‘दास कवि’ ने दूसरे ढंग से लिखा है—

एक लहें तप पुंजन्ह के फल

ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाँई।

एक लहें बहु सम्पति केशव,

भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई॥

एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन

हैं रसखानि रहीम की नाई।

दास कवित्तन्ह की चरचा

बुद्धिबन्तन को सुखदे सब ठाई॥

इसके आगे ‘दास कवि’ काव्य (साहित्य) की तीन कोटियाँ निर्धारित करते हैं—

प्रभु ज्यौ सिखवें वेद,

मित्र मित्र ज्यों सत् कथा।

काव्य रसन को भेद,

सुख सिखवानि तियासु ज्यों॥

मम्मट निर्देशित तथा पंडितराज जगन्नाथ द्वारा समर्थित साहित्य-रचना के मूल कारणों को दास कवि इस प्रकार कहते हैं।

सक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि
 जन्म नक्षत्र में दीन्ही बिधातें ॥
 काव्य की रीति सिखी सुकबीन्ह सों
 देखी सुनी बहु लोक की बातें ॥
 दास हूँ जामे इकत्र ये तीनि
 बने कविता मन रोचक तातें ॥
 एक बिना न चलै रथ जैसे
 धुरन्धर सूत की चक्र निपातें ॥

इस भाँति दास कवि ने अपने ग्रंथ “काव्य निर्णय” में प्रतिभा, काव्य-रीति और लोक-व्यवहार का साहित्य-रचना के क्षेत्र में महत्व निर्धारित किया है। महाकवि केशव ने काव्य-प्रयोजन के अनुसार तीन प्रकार के कवियों की कोटि ही निर्धारित कर दी है—

केशव तीनहुँ लोक में, त्रिविध कविन के राय।
 मति पुनि तीन प्रकार की, बरनत सब सुख पाय ॥
 उत्तम, मध्यम, अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन।
 मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन ॥

इनका विस्तार निम्न प्रकार से हुआ है:—

हैं अति उत्तम ते पुरुषारथ जे परमारथ के पथ सोहैं।
 केशवदास अनुत्तम ते नर संतन स्वारथ संजुत जो हैं ॥
 स्वारथ हू परमारथ भोग न मध्यम लोगनि के मन मोहैं।
 भारत पारथ मित्र कहघो परमारथ स्वारथ हीन ते कोहैं ॥

महाकवि देव ने काव्य-रचना में यश का प्रयोजन ही मुख्य माना है। वे अपने “शब्द-रसायन” में कहते हैं—

जानिए न जाति, पहिचानिए न आवत,
 बितीत्यौ दिन राति, पै न रीत्यौ परिजातु है,
 जगत प्रवाह-पथ, अकथ, अथाह ‘देव’
 दया के निबाह कहूँ कोई तरि जातु है,
 कते अभिमानी भये, पानी के बबूला कोई
 बानी-बीज धरम, धरा में धरि जातु हैं,

सबद रसाइन के, अरथ उपाइन

अमर-तर काइन, अमर करि जातु है ।

महाकवि 'पद्माकर' अपने ग्रंथ 'जगद्विनोद' में सहृदय जनों को आकृष्ट कर वश में करना ही अपने ग्रंथ की रचना का कारण मानते हैं—

जयतसिंह नृप-हुकुमतें, 'पद्माकर' लहि मोद ।

रसिकन के बस-करन को, कीन्हो जगत विनोद ॥

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि संस्कारगत प्रतिभा से आत्मा का बाह्यमय रूप अभिव्यक्त होता है तथा उसका रूप उपदेश और अभ्यास से निखरता है । इसका प्रयोजन तप-सिद्धि, यश और धन की प्राप्ति के लिए माना गया है ।

पश्चिम में साहित्य की प्रेरणा के अनेक कारण माने गये हैं । दार्शनिक अरस्तू ने अनुकरण की प्रवृत्ति ही साहित्य के मूल में मानी है । प्रकृति के अनेक व्यापार तथा पूर्वजों के किए हुए अनेक कृत्यों को दुहराने की पाश्चात्य दृष्टिकोण प्रवृत्ति मनुष्य में है और इसीलिए वह उसे अनुकरण प्रवृत्ति के अन्तर्गत दुहराना चाहता है । हीगल ने वस्तु जगत् के आकर्षण तथा सौन्दर्य को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति में साहित्य का बीज समझा है । क्रीचे ने संसार में व्यक्तित्व की अभिव्यंजना को ही साहित्य का सारथी बनाया है, और जर्मनी के मनोविज्ञान-वेत्ता फ्रायड ने मानव के समस्त कार्य-कलाप में काम-वासना को ही अग्रगण्य माना है । हमारे ग्रहों भी प्राचीन साहित्य में 'काम' सृष्टि का उत्पादक है । ऋग्वेद के दशम मण्डल में सृष्टि-निर्माण करने की प्रवृत्ति ब्रह्म के हृदय में 'काम' से ही आरंभ हुई । 'शतपथ' ब्राह्मण में सृष्टि के आदि में 'काम' की चेष्टा ही है । 'शतपथ' के इस मनोभाव में ही 'प्रसाद' ने कामायनी की रचना की, जिसमें 'काम' सर्ग के अन्तर्गत वे 'काम और रति' का परिचय देते हुए 'काम' की आत्म-कथा लिखते हैं—

हम दोनों का अस्तित्व : रहा ,
उस आरंभिक आवर्तन सा,
जिससे संसृति का बनता है
आकार रूप के नर्तन सा,
उस प्रकृति लता के यौवन में
उस पुष्पवती के माधव का,
मधुहास हुआ था वह पहला
दो रूप मधुर जो ढाल सका ।

हमारे प्राचीन साहित्य की यह दृष्टि सृष्टि-निर्माण की विधायिका है। इसे ही साहित्य-निर्माण की सूत्रधारिणी मानना युक्तिसंगत न होगा। इसीलिए मनो-

विज्ञान वेत्ता फ्रायड जब काम-वासना को ही साहित्य समन्वयात्मक दृष्टि के मूल में मानते हैं तब इससे मैं सहमत नहीं हूँ।

साहित्य के किसी विशिष्ट अंग की सृष्टि काम की प्रेरणा से भले ही हो, परन्तु समस्त साहित्य के मूल में काम-वासना की स्थिति आवश्यक नहीं है। हमारी जीवनगत साधना का सबसे प्रथम सोपान संयम में है। इच्छाओं को रोकना ही नहीं, वरन् उनसे मुक्ति पाना हमारे जीवन का इष्ट है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी हमें निष्काम कर्म का संदेश दिया गया है। अतः जहाँ साधना है, वहाँ काम की स्थिति नहीं है और यदि साहित्य साधना है, तो वह काम से प्रेरित कैसे हो सकता है? यह कहा जा सकता है कि हमारी उपचेतना में काम का आग्रह है, जो स्वप्न और साहित्य में विना किसी प्रत्यक्ष कारण के नाना रूप ग्रहण करता है, किन्तु जिन्होंने साधना के वास्तविक रूप को हृदयंगम किया है, वे यह जानते हैं कि साधना के क्षेत्र में काम का कोई स्थान नहीं है। जिस भाँति धूम, अगरू के संपर्क में आकर अपनी समस्त कड़वाहट छोड़ देता है, अथवा जिस भाँति कोई वेगवती नदी समुद्र में मिलते ही अपना समस्त वेग समुद्र में समाप्त कर देती है, उसी प्रकार साधना के क्षेत्र में साधक का समस्त काम अपनी प्रेरणाएँ समाप्त कर देता है। फ्रायड द्वारा अनुमोदित हृदय की समस्त दबी हुई प्रेरणाएँ इष्ट के प्रेम में जलकर भस्मीभूत हो जाती हैं। अग्नि के संपर्क में कोयला भी अपना कालापन छोड़कर अग्नि का रूप ग्रहण कर लेता है और वही अग्नि का माध्यम भी हो जाता है। इसी प्रकार साधना के लक्ष्य में जो कोई भी वस्तु या भावना सत्य, शिव और सौन्दर्य की ज्योति में पड़ जाती है, वह अपने समस्त विकारों को छोड़कर उसी सत्य, शिव और सौन्दर्य के आलोक में उद्भासित हो उठती है। तुलसीदास ने मुन्दरकांड में विभीषण से श्रीराम के प्रति कहा है—

ममता तश्न तमी अँधियारी।

राग द्वेष उलूक सुखकारी॥

तब लगि बसति जीव मन माहीं।

जब लगि प्रभु प्रताप-रवि नाहीं॥

इस प्रकार ममता, राग, द्वेष आदि की भावना तभी तक है, जब तक कि इष्ट का प्रेम आविर्भूत नहीं होता। जैसे ही साधना का पथ प्रशस्त हुआ कि समस्त

मनोविकारों का दमन अथवा गोपन (Surpression) ही नहीं होता, वरन् उनका विनाश हो जाता है। इसी संदर्भ में इसका समर्थन है—

उर कछु प्रथम वासना रही।

प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥

इस भाँति आरंभ की वासना साधना के क्षेत्र में आते ही या तो समाप्त हो जाती है या साधना के वसंत में ही परिणत हो जाती है। इस स्थिति में हृदय में उन्हीं भावनाओं का विकास होता है, जो साधना पथ का समर्थन करती हैं। गुप्त या व्यक्त मनोभावों का प्रश्न ही नहीं उठता। तुलसीदास का रामचरित मानस स्वान्तःमुखाय ही प्रेरित हुआ था, किसी 'काम की दृष्टि' से नहीं। फ्रायड के सिद्धान्त को स्वीकार करना जीवनगत शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं में विश्वास करना है, किन्तु जब साधना के क्षेत्र में साधक शरीर और मन को पीछे छोड़ देता है, अथवा जब कोई रहस्यवादी अपनी स्थिति संसार में न मानकर ब्रह्म के विराट् अस्तित्व में मानने लगता है तो मन और इन्द्रियों की गति से वह कैसे अनुशासित हो सकता है ! वह तो ईश्वर में निवास करता है ! सहज समाधि में वह अपने प्रत्येक कार्य को ईश्वर की प्रेरणा मानता है। कबीर कहते हैं—

सन्तो सहज समाधि भली।

गुरु प्रसाद जा दिन तें उपजी दिन दिन अधिक चली॥

जहँ जहँ डोलौ सो परिकरमा जो कछु करौ सो पूजा।

जब सोवौ तब करौ दंडवत पूजँ देव न दूजा॥

इस भाँति फ्रायड का मत भारतीय साहित्य की प्रेरणा में पूर्ण रूप से घटित नहीं होता। काम-वासना लौकिक क्षेत्र की प्रेरणा है। जब लौकिक क्षेत्र का साहित्य लिखा जायगा, तब यह 'काम' की प्रेरणा मान्य हो सकेगी जिस प्रकार हिन्दी के रीति साहित्य में 'काम' की प्रेरणा ही साहित्य की सूत्रधारिणी है। किन्तु जहाँ साधक अलौकिक क्षेत्र में अपने शरीर और मन से मुक्त होकर साहित्य की सृष्टि करता है, वहाँ ऋचे के 'आत्माभिव्यंजन' का रूप ही अधिक है, फ्रायड के 'काम' का नहीं।

नवम प्रकरण

साहित्य की शैली

साहित्य का सम्बन्ध रागात्मक प्रवृत्ति से है इसलिए उसकी अभिव्यक्ति सदैव ऐसे रूप में होनी चाहिए, जिसमें मनुष्य का उसके प्रति सहज आकर्षण हो सके। इसके साथ ही साथ यह भी विचारणीय है कि प्रत्येक व्यक्ति के अभिव्यक्तीकरण की शैली उसकी अपनी निजी विशेषता है, जो उसके व्यक्तिगत दृष्टिकोण से अनुशासित होती है। ऐसी स्थिति में जब साहित्य की अभिव्यक्ति होती है तब दो बातों का ध्यान आवश्यक हो जाता है।

पहली बात तो यह है कि जीवनगत सौन्दर्य को इस प्रकार उद्घाटित किया जाय कि वह अधिकाधिक मात्रा में मानव की रागात्मक वृत्ति को जागरित कर सके; और दूसरी बात यह कि व्यक्तिगत दृष्टिकोण में अधिक से अधिक मौलिकता हो। वस्तुतः इन्हीं दो दृष्टिकोणों में शैली की कल्पना हो सकती है। मनोभावों को व्यक्त करने का व्यक्तिगत सौन्दर्यात्मक प्रयोग शैली का आधार है।

साहित्य का माध्यम वाङ्मय होने के नाते भाषा है, इसलिए भाषा के प्रयोग का सौन्दर्य और लाघव शैली के अन्तर्गत है। भाषा भावों की वाहिका है।

इसलिए जिन भावों का स्पष्टीकरण भाषा को करना है, उनका स्पष्ट और प्रभावशाली प्रयोग भाषा पर ही अवलम्बित है। भावों के साथ ही साथ भाषा के प्रयोग में भी अधिक से अधिक सौन्दर्यगत अनुपात रखना आवश्यक हो जाता है।

भाषा के दो उपकरण हैं—नाद और अर्थ। भाषा अपने आरम्भिक विकास में अर्थों के लिये नाद की ही अनुवर्तिनी रही होगी। जितनी मात्रा में नाद अर्थ की संगति उपस्थित कर सकेगा, उतनी ही मात्रा में भाषा व्यापक बन सकेगी; क्योंकि नाद से ही यदि अर्थ ध्वनित होगा तो उसके समझने में अधिक कठिनाई नहीं हो सकती। अर्थ और नाद की इस संयुति को अधिकाधिक समर्थ बनाने का प्रयत्न शैलीकारों का इष्ट रहा है। जहाँ यह संभव नहीं हो सका वहाँ साहित्यकारों

को हृदय आकृष्ट करनेवाली अन्य रस, रीतियाँ ग्रहण करने की आवश्यकता हुई।

साहित्य में नाद का सम्बन्ध शब्द से है, अतः शब्दों के प्रयोग में इस बात का ध्यान आवश्यक है कि वह एक ओर नादात्मक हो, दूसरी ओर उसके द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति सहज रूप से हो सके। जहाँ शब्दों का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है, वहाँ उनका नाद वस्तु की ध्वनि के अनुकरण में हो सकता है। किन्तु जब शब्दों का सम्बन्ध अंतर्जगत से होता है, तो अनुकरणात्मक परिस्थिति के अभाव में अर्थ की चरम अभिव्यक्ति का लक्ष्य ही सामने रह जाता है। ऐसी स्थिति में शब्द का प्रयोग निश्चित करने के लिये विशेष दृष्टि अपेक्षित है, यों तो भाषा के विकास में शब्द ही अर्थ का द्योतक होकर अपनी सृष्टि में संपूर्ण है। शब्द अर्थ से अलग होकर भी उमसे अलग नहीं है। जिस प्रकार लहर जल से भिन्न होकर भी जलगत ही है। तुलसीदाम ने लिखा भी है—

गिरा अर्थ जल बोचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ॥

बन्दौ सीताराम पद जिनहि परम प्रिय खिन्न ॥

किन्तु साहित्य के क्षेत्र में आते ही शब्द-प्रयोग की एक विशिष्ट शैली निर्धारित हो जाती है। भारतीय आचार्यों ने इस विशिष्ट शैली को “शब्द-शक्ति” का नाम दिया है। ये शब्द शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।

संदर्भ को देखते हुए उचित अर्थ का ग्रहण अभिधा शक्ति है; शब्दों से इंगित और परोक्ष शक्ति लक्षणा और शब्दों से ध्वनित शक्ति व्यंजना है। यों तो साहित्य

में शब्दों के प्रयोग में ये तीनों शक्तियाँ यथावसर कार्य करती हैं, किन्तु सबसे अधिक महत्व व्यंजना को दिया गया है, क्योंकि उसके द्वारा कम से कम शब्दों में

अधिक से अधिक अर्थ की अनुभूति संभव है। नाद और अर्थ के चमत्कार में इस शाब्दिक प्रयोग ने अनेकानेक रूप धारण किये हैं। इन शब्दों से अनेक प्रतीकों का निर्माण हुआ है, जिनमें शताब्दियों से आती हुई अर्थ-संपत्ति संचित है। प्रतीकों में शब्द अपने संदर्भ से उठकर एक ऐसे भाव-संसार का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो किसी विशेष अर्थ की पूर्ति करता है। इन प्रतीकों के साथ समस्त मानव और अमानव जगत् की संवेदनाएँ सम्बद्ध हैं। अनेक अवसरों पर अनुभूति की गहरी एवं मर्मस्पर्शी परिस्थितियों का चित्रण सामान्य भाषा द्वारा संभव नहीं होता। वर्ड्सवर्थ के “ऑफन लाइ टू डीप फ़ार टियर्स” (अर्थात् वे इतनी गहरी हैं कि अभ्रुओं से भी उनकी अभिव्यक्ति संभव नहीं) जैसी परिस्थितियाँ जीवन में अनेक बार आया करती हैं। ऐसी दशा में अनुभूति के समानान्तर भाषा प्रवाहित होने में असमर्थ

हो जाती है। तभी प्रतीक शैली का आविर्भाव होता है और कभी वह मंत्रों के रूप में, कभी दार्शनिक संवेद्य के रूप में, कभी काव्य-रूपक के अभिव्यंजन में प्रतीक कल्पना संभव होती है। सामान्य रूप से इसकी छः कोटियाँ निर्धारित हो सकती हैं :—

प्रथम—सौन्दर्यात्मक अनुभूति का स्पष्टीकरण।

द्वितीय—दार्शनिक अनुमान की संगति।

तृतीय—उलट-बाँसी या विरोधी परिस्थितियों के विलक्षण साम्य में रहस्योन्मुख अनुभूति या रहस्यवाद की अनुभूति।

चतुर्थ—काव्यगत सत्य की सार्थकता।

पंचम—मनोवैज्ञानिक संवेदना और

षष्ठ—आश्चर्य-विवर्धन के लिये प्रत्यक्ष भाव-गोपन।

एक शब्द में ही अनेकानेक भावों की अभिव्यक्ति प्रतीक का निर्माण करती है। 'अरुण शिखा-ध्वनि' प्रभात के लिए प्रतीक बन गया है अथवा 'अशोक' पुष्प जहाँ ऋतुसूचक है, वहाँ मुग्धा के पदाघात की व्यंजना में भी प्रतीक और अलंकार मार्थक हुआ है। प्रतीक का सम्बन्ध शब्द-शक्ति की ध्वनि-शैली से है। अतः साहित्य में अर्थ की विपुलता के लिये प्रतीक सदैव प्रयुक्त होगा। जिस प्रकार मधु का एक बिन्दु सहस्रों पुष्पों की सुगन्धि एवं मकरन्द का संश्लिष्ट रूप है, उसी भाँति एक प्रतीक अनेकानेक मानव-जगत् और वस्तु-जगत् के कार्य-व्यापारों का संकलन है। अतः साहित्य के इतिहास में मंत्र से लेकर आत्म-बोध की अनेकानेक भावनाएँ इसी प्रतीक द्वारा उद्बुद्ध हुई हैं। प्रतीक व्यष्टि में समष्टि का संपोषण है।

इसी प्रतीक के अर्थ-विस्तार में अलंकारों का निर्धारण संभव हो सका। शब्द और अर्थ के चमत्कार का अलग अलग और सम्मिलित रूप शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार के रूप में है।

शब्दालंकारों में शब्द-चातुर्य है, अर्थालंकारों में अर्थ-कौशल और उभयालंकारों में शब्द और अर्थ का पारस्परिक प्रभावशाली प्रयोग-लाघव है। यदि यह कहा जाय कि शब्दालंकार में भाषा की चित्र-शाला है, और अर्थालंकार में भावों की मुस्कान तो अत्युक्ति न होगी। यह मुस्कान शोभा के संसार में अवतरित होती है। वस्तुतः अलंकारों का प्रयोग भाषा और भावों का सौन्दर्य-दृष्टि से संचय करने में तथा उनके द्वारा जीवन के कार्य-व्यापारों को आकर्षक बनाने में है। इन प्रयोगों को इसीलिए 'अलंकार' नाम दिया गया कि उनसे भाषा और भावों की नग्नता दूर होकर उनमें सुषमा और सौन्दर्य की सृष्टि होती है।

अलंकारों के प्रयोग में मेरी दृष्टि से पाँच बातों की प्रमुखता रहती है :—

- (१) भाषा की परिष्कृत सृष्टि
- (२) नाद-संसार की परिव्याप्ति
- (३) चमत्कार-प्रवणता
- (४) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
- (५) भाव-तीव्रता अथवा वस्तु-जगत् में प्रच्छन्न भाव को विभिन्न दृष्टि से उभारकर गति प्रदान करना ।

उपर्युक्त पाँचों दृष्टियों में अलंकार एक ओर भाषा का परिष्कारक है, तो दूसरी ओर भावों के प्रयोजन की अन्तर्दृष्टि का सूचक भी है । जहाँ इसका सम्बन्ध भाव-प्रयोजन से है, वहाँ इसका सम्बन्ध मनोविज्ञान से हो जाता है । किसी विशेष परिस्थिति में वस्तु-विशेष को प्रकट करने की दृष्टि विशेष होती है और उमी दृष्टि का अभिज्ञान किसी विशिष्ट अलंकार का निर्धारण करने में होता है । इस प्रकार विविध परिस्थितियों में जितनी भी दृष्टियाँ प्रयुज्यमान होती हैं, उतने ही अलंकारों की संभावनाएँ हमारे सामने आकर स्पष्ट हो जाती हैं । आवश्यकता केवल इस बात की है कि ये दृष्टियाँ शब्द और अर्थ की दृष्टि से लालित्य का विस्तार करनेवाली हों । मैं समझता हूँ कि जिन आचार्यों ने सर्वप्रथम अलंकारों की उपयोगिता समझी होगी, उन्होंने रस के अन्तर्गत मनोविज्ञान को अपने समक्ष अवश्य ही रखा होगा । रूपक का निर्धारण तन्मयता में हुआ होगा, इसके विपरीत उत्प्रेक्षा में कल्पना की प्रचुरता ने कार्य किया होगा । उपमा का निर्धारण रूप-लिप्सा से प्रेरित होकर सादृश्य-मूलकता में स्थिर हुआ होगा, दीपक का निर्धारण अर्थ-लाघव की दृष्टि से हुआ होगा, अर्थान्तरन्यास में न्याय की दृष्टि प्रमुख रही होगी, विभावना में प्रलाप की अवस्था होगी, परिसंख्या में किसी वैयाकरण की दृष्टि काम कर रही होगी, यथासंख्य में किसी गणितज्ञ की प्रतिभा कार्य कर रही होगी, असंगति में कुतूहलता का चमत्कार होगा, यमक और श्लेष एक ही मनोभाव की दो शाखाएँ रही होंगी, जिसमें फूलों की भाँति शब्द और अर्थ-चातुर्य को गूँथने का प्रयत्न किया गया होगा, अप्रस्तुत प्रशंसा में किसी कूटनीतिज्ञ की कला काम कर रही होगी और एकावली में किसी ऐतिहासिक-मनोवृत्ति की क्रम-बद्धता का प्रभाव स्पष्ट हुआ होगा ।

इस मनोविज्ञान की कोटि में यदि अलंकारों का वर्गीकरण भविष्य में किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भाषा और भाव में लालित्य का विस्तार करने के लिए मनोविज्ञान ने कितनी दृष्टियाँ प्रस्तुत की हैं । इस मनोविज्ञान ने

वस्तु में निहित अनेकानेक रूप और गुण के आलोक-मंडल देखे होंगे एवं उन्हें साहित्य में सजाने के लिए अनेक वर्ग स्थापित किये होंगे। इस प्रकार देखा जा सकता है कि अलंकार केवल काव्य को अलंकृत करने का उपकरण ही नहीं है, वरन् वस्तु या पात्र में निहित मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य को स्पष्ट करने का साधन भी है। भूषण का 'शिवराज-भूषण' काव्य-ग्रंथ है, किन्तु वह शताधिक इतिहासों के शीर्ष पर सुशोभित होने की क्षमता रखता है, क्योंकि भूषण ने केवल एक चरित्र-नायक शिवाजी को अलग-अलग अलंकारों के माध्यम से इतनी दृष्टियों से देखा है और उनके चरित्र का ऐसा विश्लेषण किया है कि इतिहास का चरित्रांकन उसके समक्ष धूमिल पड़ जाता है। इतिहास ने तो परिस्थिति और घटना के माध्यम से ही शिवाजी को पहचाना है, किन्तु 'शिवराज भूषण' के कवि ने जैसे शिवाजी के हृदय में पैठकर प्रत्येक घटना की क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में शिवाजी के मानस-सौन्दर्य को शब्द और अर्थ की भंगिमाओं में प्रकट किया है। शिवाजी के भ्रू-संचालन में जितनी शक्ति है, उतनी शक्ति कवि की लेखनी की नोक में समा गई है, जिससे उसने अपने चरित्र-नायक की उदात्त-भावनाओं का उपहार अलंकारों की दृष्टि से देखकर शताब्दियों को दे डाला है। यदि भूषण का यह ग्रंथ अलंकार-शैली में न होकर गीत-शैली में होता, तो वीर-रस की एक समृद्धिशालिनी सृष्टि अवश्य हो गयी होती, किन्तु शिवाजी के चरित्र-विश्लेषण की मार्मिकता से तथा व्यक्ति को हृदयंगम करने की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों से हमारा वीर-काव्य शून्य हो जाता। अतः अलंकारों को केवल शब्द एवं अर्थ का चमत्कार उत्पन्न करने वाला न मानकर, उसके अन्तर्गत मानव-मन की सौन्दर्यान्वेषणी शक्तियों को मानना भी आवश्यक है, और यहीं अलंकार के साथ मनोविज्ञान की सार्थकता है।

शब्दों के विशिष्ट प्रयोग करने में अलंकार के आचार्यों ने नीर-क्षीर-विवेक का परिचय दिया है। किस परिस्थिति के लिए किस शब्द का प्रयोग भाव और नाद की मार्मिकता से अधिकाधिक उपयुक्त होगा, इसका निर्णय शब्दालंकार ही करते हैं और इस भाँति शब्द-चयन में सौन्दर्य-शास्त्र के साथ ही साथ भाषा-विज्ञान भी समृद्ध होता है। लालित्य और चमत्कार लाने के लिए कहीं कहीं शब्दों में परिवर्तन भी आवश्यक हो जाता है; कहीं उनका विश्लेषण होता है, कहीं उनका तद्भव रूप भी उपस्थित होता है और कहीं उनके विवेचन की दृष्टि में ही भिन्नता आ जाती है। सेनापति का निम्नलिखित कवित्त इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है :—

नाहीं नाहीं करं थोरे, मांगे सब देन कहें,
 मंगन कौ देखि, पट देत बार बार हैं।
 जाके मुख देखे भली प्रापति की घटी होत,
 सदा जन मन गन भाए निरधार हैं।
 भोगी हूँ रहत, विलसत अवनी के मध्य,
 कन कन जोरे जाप दान पर वार हैं।
 'सेनापति' बैनन की रचना बिचारो जामें,
 दाता अरु सूम दोऊ कीन्हें इकसार हैं॥

(१) नाहीं नाहीं करै—	(क) 'नहीं-नहीं' करते हैं ।	}	अर्थ-विविधता
	(ख) 'नहीं,' नहीं करते हैं ।		
(२) सब देन कहें	(क) सब देने को कहते हैं ।	}	दृष्टि-विविधता
	(ख) शब्द भी नहीं कहते हैं ।		
(३) पटदेत	(क) वस्त्र देते हैं ।	}	अर्थ-वैचित्र्य
	(ख) द्वार बन्द कर लेते हैं ।		
(४) घटी	(क) घटिका ।	}	अर्थ-वैचित्र्य
	(ख) न्यूनता ।		
(५) जनमन	(क) जनम न ।	}	शब्द-विश्लेषण
	(ख) जन मन ।		
(६) भोगी	(क) ऐश्वर्यशाली ।	}	अर्थ-विविधता
	(ख) सर्प ।		
(७) कन कन जोरे	(क) कनक न जोरे—स्वर्ण का ।	}	शब्द-विश्लेषण
	संचय भी नहीं करते हैं ।		
	(ख) कण-कण जोड़ते हैं ।		
(८) वार	(क) बलिहारी ।	}	अर्थ-विविधता
	(ख) आघात ।		

यदि उपर्युक्त 'बैनन की रचना' पर विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट होगा कि दाता और सूम का एक ही वाक्य में चित्रण करने के लिए कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग करना कवि ने आवश्यक समझा है। यदि इन शब्दों के स्थान पर अन्य शब्दों का प्रयोग किया जाता तो उपर्युक्त कला-विधान संभव नहीं हो सकता था, इसीलिए शब्द-प्रयोग में जो चयन की दृष्टि है वह भाषा की अर्थ-विविधता, शब्द-विश्लेषण और ध्वनि-सौकर्य के लिए आवश्यक होती है। शब्दों का इतिहास उसके अन्तर्गत विश्लेषणात्मक शैली से उपस्थित किया गया है, अर्थों का संसार

प्रत्यक्ष दृष्टि के सामने आ जाता है। 'भोगी', 'वार', से शब्दों के प्रयोग का इतिहास भी स्पष्ट हो जाता है। अनुप्रास में एक ही वर्ण से आरम्भ होने वाले शब्दों की रूप-राशि जब मौलश्री की माला की भाँति नाद के कण्ठ में सुशोभित होती है, तब शब्दों का सौन्दर्य सहसा हमारे सामने उभर आता है और सवर्ण शब्दों की राशि में उसके वैशिष्ट्य का पता चल जाता है। इसी प्रकार यमक में चित्र के दो पार्श्वों की भाँति दोहरे अर्थ लक्षित होने लगते हैं और हमें शब्दों की अर्थ-व्यापकता का पता लगता है।

भाव और शब्द के साथ-साथ अलंकारों ने एक तीसरा क्षेत्र भी हमारे समक्ष रखा है। वह क्षेत्र है, स्वर-विन्यास का। वक्रोक्ति में 'काकु' द्वारा अथवा व्याजोक्ति, व्याज-स्तुति या व्याज-निन्दा द्वारा विचित्र स्वर-भंगिमा में विपरीत अर्थों का अभिव्यंजन किया जाता है। यह अभिव्यंजना कभी व्यंग्य-मात्र से होती है; कभी श्लेष से या व्याज से। तुलसीदास ने सीताजी से कहा था :—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू । तुमहि उचित तप मो कहूँ भोगू ।

(अयोध्याकांड—रामचरितमानस)

इसमें कितना तीखा व्यंग्य है !

‘खोलो जूँ किवार’ ‘तुम को हो एती वार’

‘हरि नाम है हमारो’, ‘बसो कानन पहार मैं ।’

‘हौं तो प्यारी माधव’ ‘तो कोकिला के माथे भाग,’

‘मोहन हौं प्यारी’ ‘परो मंत्र अभिचार मैं ।’

इस प्रश्नोत्तर में हरि, माधव, मोहन शब्दों को लेकर श्लेष के साथ काकु द्वारा अर्थ-वैचित्र्य उपस्थित किया गया है।

इसी प्रकार :—

‘अहो गंग, अनंग के सत्रु करे बहु,

नेकु जलै मुख डारन मैं।

गिरधारन जूँ कितने विरचे,

गिरधारन धारन धारन मैं।’

इसमें व्याज से अनंग के शत्रु बनाने में शिव-रूप प्रदान करने की व्यंजना है।

इस भाँति स्पष्ट है कि शब्द, अर्थ और ध्वनि में अलंकारों ने साहित्य-शैली को निर्धारित करने में विशेष योग प्रदान किया है।

रस की मीमांसा करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि रस-निष्पत्ति तब तक सम्भव नहीं है, जब तक उसके प्रकाशन की शैली उपयुक्त न हो। इसी प्रकाशन-शैली में गुण या वृत्तियों की कल्पना की गयी है। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण, अथवा कैशिकी, सात्वती और आरभटी ओर भारती वृत्ति रस के लिए उपयुक्त शैलियाँ परिनिश्चित की गयीं। जहाँ शृंगार के लिए माधुर्य-गुण या कैशिकी वृत्ति निर्धारित की गयी, वहाँ वीर और रौद्र के लिए ओज गुण या आरभटी वृत्ति निर्धारित हुई। प्रसाद गुण एवं भारती वृत्ति तो सामान्य रूप से सभी रसों के लिए प्रयुक्त की गयीं, तथापि उनका सम्बन्ध विशेष रूप से अद्भुत एवं शान्त रस के लिए हुआ। सात्वती प्रसंगानुसार माधुर्य, करुण अथवा हास्य से अपना सम्बन्ध जोड़ लेती है। इन गुणों या वृत्तियों का लक्ष्य रस-निष्पत्ति के साथ ही साथ वातावरण को उपस्थित करने में भी रहा है, जिसका सम्बन्ध ध्वनि या नाद से है। लक्षण-कार तो इन गुणों और वृत्तियों को रस का शरीर ही मानते हैं। जिस प्रकार बिना शरीर के आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार बिना गुण या वृत्ति के रस का उद्रेक नहीं हो सकता और यदि रस की प्रभावोत्पादकता या अनुभूति अपेक्षित है तो रस के अनुरूप ही गुणों की व्यवस्था करनी आवश्यक होगी। शृंगार या करुण रस की अभिव्यंजना ओज-गुण से संभव नहीं हो सकती; इसी प्रकार वीभत्स या भयानक रस की व्यंजना माधुर्य-गुण द्वारा संभव नहीं है। जैसी आत्मा, वैसा ही शरीर, अथवा जैसे संस्कार वैसे ही आचार की रूपरेखा होनी चाहिए। यदि परुष-रस को कोमल-वर्ण मिल जाय, या कोमल-रस को परुष-वर्ण, तो दोनों की ही प्रभावोत्पादकता सन्दिग्ध है। उच्च-संस्कार वाली आत्मा यदि उल्लू की योनि प्राप्त करे या गधे के रूप में उसे बोझा ढोने का कार्य सौंप दिया जाय, तो दोनों की ही हानि है। यह गुण की व्यवस्था वर्णों द्वारा ही संभव है और वर्णों का नाद, रस की अनुभूति में सहायक होता है। इसीलिए सत्काव्य में रस के साथ गुण या वृत्तियों की व्यवस्था भी शैली का अंग बन जाती है।

नदात्मक भाव के अन्तर्गत छन्द-शास्त्र का विधान भी हुआ है। किसी विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति विशिष्ट शब्दों के द्वारा होती हुई भी एक 'पेशि' 'लय' का आग्रह करती है। इस 'लय' की व्यवस्था छन्दों के निर्माण में सहायक होती है। दूसरी बात यह भी है कि लय का सम्बन्ध छन्द से है, जो हमारी रागात्मक-वृत्ति को आकृष्ट करती है। इसके द्वारा हमारा अनुरंजन भी होता है

छन्द

और लय के माध्यम से शब्द हमारे स्मृति-पटल पर अंकित हो जाते हैं। इस भाँति छन्द-विधान से चार उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है :—

१—विशेष मनोभावों की अभिव्यक्ति में उसके अनुरूप नाद की व्यवस्था।

२—हमारी रागात्मक वृत्तियों का अनुरंजन।

३—साहित्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध।

४—स्मृति में काव्य की सुरक्षा।

प्रथम उद्देश्य तो भावों के प्रकाशन में उपयुक्त माध्यम का है। जिस पर गुण या वृत्ति के प्रसंग में विचार हो चुका है। यह स्पष्ट है कि हमारे हँसने की ध्वनि से रोने की ध्वनि भिन्न है। इसी प्रकार वीरत्व की वाणी कातरता के चीत्कार से भिन्न है। जब विविध मनोभावों के प्रकाशन की ध्वनियाँ हमारे दैनिक जीवन में इतनी भिन्न हैं तो साहित्य में उनके प्रकाशन की शैलियाँ भी भिन्न भिन्न होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में मनोभावों को अधिकाधिक सफलता के साथ व्यक्त करने की दृष्टि से छन्दों की योजना अत्यन्त आवश्यक समझी जानी चाहिए। वीरत्व की वाणी में चार यगण का 'भुजंग प्रयात्,' छन्द जितना उपयुक्त है उतना चार सगण का 'त्रोटक' छन्द नहीं। क्योंकि यगण में लघु, गुरु, गुरु का क्रम है और सगण में लघु, लघु गुरु का। दर्पपूर्ण वाणी दीर्घ या गुरु वर्णों के क्रम में अधिक प्रभावपूर्ण होगी। लघु वर्णों की आवृत्ति तो दर्प की अपेक्षा विनय में ही अधिक शोभनीय है। ऐसी स्थिति में वीर भावना के लिये शब्दों के नाद की प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से 'भुजंग प्रयात्' का वर्ण-क्रम वीर रस के अधिक उपयुक्त होगा। यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि वर्णों के लघु गुरु क्रम में हमारी भावनाओं का इतिहास छिपा हुआ है। महाकवि कालिदास ने अवसाद-पूर्ण मेघदूत के लिए 'मन्दाक्रान्ता' छन्द ही चुना 'शार्दूल विक्रीड़ित', या 'वसन्त तिलका' नहीं। हिन्दी में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ने भावों के अनुरूप ही छन्दों का चयन किया है। शृंगार रस में उन्होंने 'शार्दूल-विक्रीड़ित', करुण रस में 'मालिनी', वीर रस में 'वंशस्थ', शान्त रस में 'शिखरणी', वर्णन-वैचित्र्य में 'द्रुत विलम्बित' आदि छन्दों को निर्वाचित किया है।

द्वितीय उद्देश्य रागात्मक वृत्तियों के अनुरंजन में है। जब छन्दों का विधान लालित्य को लेकर उपस्थित होता है, तो उससे सौन्दर्य-बोध की भावना प्रतिफलित होती है। यह सौन्दर्य हमारी रागात्मक वृत्तियों के क्रोड़ में प्रविष्ट होता है और काव्य के प्रति हमारा आकर्षण अधिक बढ़ जाता है। जो बात गद्य में कही जाती है, यदि वही पद्य में कही जाय, तो उससे न केवल शब्दों के लालित्य में वृद्धि होती है, वरन्

उसमें नाद के आश्रय से व्यंजना शक्ति भी प्रादुर्भूत होती है। कालिदास का 'रघुवंश' वस्तुतः रघु-कुल के नरेशों का इतिहास है, किन्तु छन्दोबद्ध होने के कारण उसकी प्रत्येक पंक्ति में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हो सकी है। यही बात 'पृथ्वीराज रासो' या 'आल्ह खण्ड' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यदि 'आल्ह खण्ड' गद्य में कहा जाता तो उससे हमारे हृदय में वीर रस का संचार वैसा न होता जैसा कि पद्य में लिखे जाने के कारण है। छन्द का सीधा प्रभाव हमारी रागात्मक वृत्तियों पर पड़ता है और उससे रस-संचार में सहायता मिलती है।

तृतीय उद्देश्य साहित्य का संगीत के साथ निकट सम्बन्ध होने में है। संगीत में स्वर, नाद और लय का प्रमुख आधार है और यह आधार रागों की विविधता प्रस्तुत कर मनोभावों के विविध रूपों का द्योतक है। संगीत शब्द को प्रमुखता प्रदान नहीं करता। काव्य ने शब्द देकर संगीत को अपनी परिधि में ले लिया है। यही कारण है कि अपनी विभिन्न मनोदशाओं में भाव-विभोर होकर भक्ति-काल के कवियों ने जिस काव्य की सृष्टि की है, उसमें संगीत का विशेष हाथ है। महाकवि मूरदास ने अपनी पुष्टि-भक्ति में अपने आराध्य कृष्ण की जिन लीलाओं का गान किया है, उसमें संगीत के स्वर काव्य की मार्मिकता स्पष्ट करते हैं। इसी प्रकार अपनी ईं तुलसीदास ने महा'गीतावली श्री रामके जीवन की कोमल भावनाएँ व्यक्त की हैं। मरुस्थल की मन्दाकिनी मीरा ने गीतों और पदों में ही अपने काव्य की सृष्टि की है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी अपने काव्य का प्रेम-विषयक मार्मिक अंश पदों में ही व्यक्त किया है। इस भाँति भारतीय साहित्य में जहाँ प्रेम और अनुराग की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ काव्य ने संगीत का आश्रय लिया है।

चतुर्थ उद्देश्य—उपर्युक्त तीनों उद्देश्य हृदय तत्त्व से सम्बन्धित होने के कारण हमारी स्मृति को निरन्तर जागरित करते रहते हैं। विशिष्ट सौन्दर्य-बोध के साथ लय का योग होने के कारण काव्य का रूप हमारे स्मृति-पटल पर अंकित हो जाता है। हम किसी विषय की व्याख्या या विवेचना शब्दशः स्मरण नहीं रख सकते, किन्तु वही पद्य में पंक्ति-बद्ध होने पर हमारी स्मृति में सुरक्षित रहती है। छन्दों को गति में हमारा हृदय अग्रसर होता रहता है और हम समस्त काव्य को कण्ठस्थ कर लेते हैं। अतः साहित्य में काव्य की शैली छन्दोबद्ध होने के कारण अधिक आकर्षक हो जाती है।

छन्द विधान में तीन कोटियाँ निर्धारित की गई हैं : प्रथम है मात्रिक, दूसरी वर्णिक और तीसरी मुक्तक है। मात्रा में लघु गुरु मात्राओं की संख्या से मात्रिक छन्दों का निर्धारण होता है। वर्णिक छन्दों में तीन वर्णों की इकाई से निर्मित गणों के

विविध समुच्चयों की व्यवस्था है और मुक्तक छन्दों में गुरु या लघु वर्णों की स्वतंत्र इकाई ही छन्द का आधार है। ये छन्द मात्रा और गण से मुक्त होने के कारण 'मुक्तक' कहलाते हैं। कवि अपनी भावनाओं की दृष्टि से जिस छन्द का नाद उपयुक्त समझता है, उसका प्रयोग करता है और इस प्रयोग में काव्य की प्रभावोत्पादकता अधिक बढ़ जाती है। मेरी दृष्टि से भावनाओं में भी समय-समय के अनुसार बढ़ती हुई तरंग की भाँति एक विशेष गति रहती है। यदि जीवन को उसके ऋजु-रूप में छोड़ दिया जाय तो वह भी नाद का एक रूप हो सकता है। यदि नक्षत्रों के भ्रमण में मंगीत है और प्रकृति की प्रत्येक गतिशीलता में एक लय है तो मनुष्य की भावात्मक प्रगतिशीलता विश्व-संगीत का रूप क्यों नहीं बन सकती? यदि ऐसा न होता तो कौंच-वध को देखकर आदि कवि वाल्मीकि के कंठ से जो भारती अनायास प्रस्रवित हुई उसकी लय में 'अनुष्टुप' छन्द का निर्माण न हुआ होता। इस प्रकार मानव-जीवन की भावना ही छन्दोमयी है और यदि काव्य ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए छन्द का माध्यम ग्रहण किया, तो उसने अपनी स्वाभाविक नादात्मक प्रकृति का ही परिचय दिया है।

पश्चिम के आलोचकों ने छन्द को काव्य के लिए अनिवार्य नहीं माना। वे उसे काव्य के लिए एक संयोग की बात मानते हैं। उसके द्वारा मानव को बाह्य-जगत् से सम्बन्ध स्थापित करने में सुगमता मात्र प्राप्त होती है। भावनाओं का जो ज्वार परिस्थिति-विशेष में हृदय से उच्छ्वसित होता है, उसके लिए छन्द का संकीर्ण मार्ग और उसमें परिमित मात्राओं या गणों की व्यवस्था बाधास्वरूप ज्ञात होती है। संभवतः इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर हिन्दी के 'प्रयोगशील' या 'प्रयोगवादी' कवि काव्य में छन्द की व्यवस्था स्वीकार नहीं करते। वीर-बहूटियों की तरह कभी लम्बी रेखा में चलकर और कभी सहसा सिकुड़ जानेवाली उनकी पंक्तियाँ मुक्तवृत्त का नाम लेकर भावनाओं की प्रखरता का उद्घोष करना चाहती हैं। वे छन्द को पुरातनता का निर्मोक्त समझकर छोड़ देते हैं और 'क्रान्ति' के नाम से छन्दों का परित्याग करने में प्रतिद्वन्द्विता सी करते ज्ञात होते हैं। शताब्दियों से अर्जित इस नाद सम्पत्ति का कोई उपयोग उनके समक्ष नहीं है। यही कारण है कि जहाँ प्राचीन साहित्य का अधिकांश हमें कंठस्थ है, वहाँ आधुनिक 'प्रयोगवादी' काव्य की चार पंक्तियाँ भी किसी के स्मृति पटल पर अंकित नहीं हो सकीं। यदि काव्य का सम्बन्ध मानव की रागात्मक वृत्तियों से अविच्छिन्न है, तो नाद और उसके साथ छन्द भी साहित्य की शैलियों के अन्तर्गत अपना महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा।

साहित्य जब काव्य के क्षेत्र से गद्य के क्षेत्र में आता है, तो उसे अपने प्रकाशन में भी शैलियों की अपेक्षा होती है। गद्य की शैलियों में प्रायः चार कोटियाँ निर्धारित की जाती हैं :—

- (१) इतिवृत्तात्मक ।
- (२) विश्लेषणात्मक ।
- (३) विवेचनात्मक ।
- (४) कलात्मक ।

इतिवृत्तात्मक शैली केवल वस्तु-स्थिति के निरूपण में प्रयुक्त होता है, जिसमें भावना और कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तु स्थिति का यथा-तथ्य वर्णन, किसी ऐतिहासिक घटना का विवरण, भूगोल के अन्तर्गत नगरों या जलवायु का शीतोष्ण उल्लेख, अथवा किसी वैज्ञानिक-विषय का कारण और कार्य-समन्वित स्पष्ट निरूपण, इस शैली की अपेक्षा रखता है।

विश्लेषणात्मक शैली, सामाजिक या राजनीतिक समस्याओं के प्रसंग में, नीर-क्षीर विवेक की भाँति, अपना रूप निर्धारित करती है। उसमें आरम्भ से अंत तक विचार-सरणी विषय की कोटियों के अनुरूप चलती है जिसमें जाति, स्वभाव, गुण, महत्ता आदि की श्रेणियाँ निर्धारित होती चलत हैं।

विवेचनात्मक शैली में वस्तुस्थिति के सभी पार्श्वों पर प्रकाश डालते हुए गुण-दोषों की परीक्षा होती है और उलझी हुई समस्याओं का हल प्रस्तुत किया जाता है। दार्शनिक विषयों की मीमांसा अथवा साहित्य की परम्परा एवं उसके प्रयोगों की उपादेयता इसी के द्वारा निश्चित की जाती है। साहित्य, दर्शन, समाज-शास्त्र, राजनीति आदि अनेकानेक विषय अपनी ऐतिहासिक, तुलनात्मक अथवा स्वच्छन्द विकासोन्मुखता में रूप-निर्धारण करते हैं। किसी भी विषय की सापेक्ष या निरपेक्ष स्थिति के सम्बन्ध में निष्कर्ष इसी शैली द्वारा प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

कलात्मक शैली में भावना और कल्पना के माध्यम से सौन्दर्य के अनेक पार्श्व प्रकट किए जा सकते हैं। साहित्य, कला तथा संगीत की अनुभूति इसी शैली द्वारा संभव हो सकती है। इसी शैली में रस का सम्पोषण संभव है, जो हमें लोकोत्तरानन्द का परिचय गद्य के माध्यम से दे सकता है। इसी कलात्मक शैली द्वारा ललित दृष्टि का प्रयोग होता है, और उसमें अलंकारों की शक्ति, विचारों की ललित सृष्टि करने में सहायक समझी जाती है।

इस भाँति पद्य और गद्य के क्षेत्र में शैली का महत्व सदैव ही एक आवश्यक उपादान समझा जायगा।

एक बात और है। साहित्य के विकास में ऐसी अनेक परिस्थितियाँ आ सकती हैं, जब गद्य और पद्य की शैलियों में विपर्यय हो जाय। पद्य, गद्य की भाँति मुक्त रूप से लिखा जा सके और गद्य गीतों का रूप धारण कर ले तथा मुक्त-वृत्त-काव्य और गद्य-गीत की शैलियाँ विकसित हों। यदि आज के वैज्ञानिक-युग में यौन-परिवर्तन संभव है, तो गद्य और पद्य की शैलियों का यह विपर्यय भी संभव हो सकता है; किन्तु जैसा स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक शब्द का एक अर्थ-संसार है अथवा प्रत्येक छंद का एक विशिष्ट भाव-क्षेत्र है, अथवा रस और गुण का एक विशिष्ट सम्बन्ध है। गद्य के क्षेत्र में प्रत्येक प्रकार की विचार-सरणी की एक विशिष्ट-प्रकाशन-विधि है, वह साहित्य में सदैव ही अपना स्थान रखेगी। साहित्य के ये प्रयोग निरंतर होते रहेंगे, किन्तु स्थायित्व उसे ही प्राप्त होगा, जो शब्द और अर्थ का समन्वय और सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ होगा।

दशम प्रकरण

साहित्य के विस्तार की दृष्टि

साहित्य के विस्तार पर दृष्टिपात करते समय जो विचार सर्व प्रथम हमारे सामने आता है वह है, जीवन के विस्तार का। जैसे जैसे जीवन समुन्नत होता जायगा, वैसे वैसे साहित्य भी समृद्धिशाली होगा। जीवन प्रतिक्षण विस्तृत होता जा रहा है और इसलिए साहित्य-निर्माण की भावनाएँ प्रतिपल नवीन होती जा रही हैं; किन्तु प्रश्न यह है कि जीवन में जो संघर्ष होते चले जा रहे हैं वे हमारी संस्कृति की सुरक्षा के प्रति आस्थावान हैं, अथवा सम्यता के सोपान हैं? जीवन को समुन्नत करने के लिए संस्कृति और सम्यता का विशेष हाथ है। शताब्दियों की धारा में प्रवाहित होने वाली अनन्त जल-राशि की भाँति हमारी संस्कृति चली आ रही है और सम्यता उस धारा का परिष्कार करते हुए कूल की भाँति उसे समेटते हुए चलती है। यह भी संभव हो सकता है कि संस्कृति और सम्यता में विरोध हो। उसका मूल कारण यह हो सकता है कि संस्कृति पुरातन परम्पराओं द्वारा अर्जित की हुई निष्ठा है और सम्यता युग-विशेष की प्रवृत्तियों की संवाहिका है। पुरातन युगों की अपेक्षा नवीन युग अपने को सदैव अधिक सम्य मानता रहा है और वह जीवन के प्रयोगों में अधिक जागरूक रहा है। इसलिए सम्यता में जो रुचि-वैचित्र्य है, वह संस्कृति के विपरीत भी हो सकता है। संस्कृति हमारे अंतर्जगत् का निर्माण करती है और सम्यता बहिर्जगत् का; और बहिर्जगत् में जो कुछ भी होता है, वह अंतर्जगत् द्वारा समर्थित हो, यह आवश्यक नहीं है। ऐसी स्थिति में जब जीवन संस्कृति और सम्यता के विरोधी दृष्टिकोण में उलझ जाता है, तो साहित्य में भी विषम विचारधाराओं की सृष्टि संभव हो जाती है। यही कारण है कि किसी भी युग के साहित्यकार जब अपनी युगीन रुचि का परिचय देने लगते हैं तो वे अपनी परम्पराओं से दूर हटते हुए ज्ञात होते हैं। जिन साहित्यकारों द्वारा परम्परा का पोषण होता है, वे पुरातनवादी कहे जाकर, युग के प्रवर्तक नहीं माने जाते।

इस परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए साहित्य के विस्तार की तीन संभावनाएँ हो सकती हैं :—

प्रथम—किसी युग विशेष में संस्कृति की वे मान्यताएँ उपस्थित की जाँय, जो रूढ़ न होकर चिरन्तन सत्य से अनुमोदित हों।

द्वितीय—संस्कृति की उन बातों का विरोध हो, जो युग की कल्पना के समानान्तर नहीं हैं।

तृतीय—युग के साहित्य में उन समस्त विचारों का विकास हो, जो सांस्कृतिक दृष्टि से पोषित होते हुए भी विशिष्ट संशोधनों के साथ युग के अनुरूप हो सकते हैं। इन तीनों विचार-धाराओं से साहित्य के विस्तार और विकास की रेखा खींची जा सकती है।

पहली विचार-धारा तो चिरन्तरन सत्य से सम्बन्ध रखती है। उसमें संस्कृति और सभ्यता के विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। जीवन-सत्य तो प्रकृति के नियमों की भाँति अकाट्य है और यदि उसकी अवहेलना की जाय तो जीवन के विकास में बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं। उदाहरण के लिये शैशव की स्मृति, यौवन का

चिरन्तन सत्य का प्रतिपादन

उन्माद और वृद्धावस्था की असहायता—ये किसी भी देश या काल में प्रकृतिगत सत्य हैं। यह बात दूसरी है कि इनके निरूपण में साहित्यकारों या कवियों ने भिन्न भिन्न शैलियों का प्रयोग किया हो। इसी प्रकार प्रकृति-चित्रण सब देशों और सब कालों में साहित्य का प्रिय विषय रहा है। यह बात दूसरी है कि कवि-कल्पनाएँ प्रकृति को नित्य नये रूप में सजाती रही हैं। जो सत्य मानवता के निर्माण में सहायक है, वह सत्य संस्कृति से मान्य होकर सभ्यता द्वारा भी अनुमोदित होगा। सूरदास का बाल-मनोविज्ञान केवल हिन्दी की ही नहीं, समस्त विश्व की संपत्ति है। इसी प्रकार महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' में 'अज का विलाप', रामचरित मानस में सीता-हरण के उपरान्त किये जानेवाले रामके विलाप से भिन्न नहीं है। परिस्थितियों की भिन्नता भले ही हो, किन्तु विरह की प्रेरणा दोनों जगह एक सी है। 'शेक्सपियर' के 'हेमलेट' नाटक में 'हेमलेट' की विवशता और निराशा श्री जयशंकर 'प्रसाद' के 'स्कन्दगुप्त' की निराशा के समान ही चलती है। इन शाश्वत विचारों की शृंखला में विश्व-साहित्य बिना किसी विरोध के अपनी संवेदनाएँ जोड़ता चलता है।

संस्कृति द्वारा प्रेरित अनेक मनोभाव कभी कभी युग की परिस्थितियों से मेल नहीं खाते और तब उनका विरोध होने लगता है। शताब्दियों से आती हुई

वैदिक धर्म के अन्तर्गत शास्त्रों की परम्परा पन्द्रहवीं

शताब्दी में कबीर को मान्य नहीं हुई और उन्होंने

पूरी शक्ति से उसका खण्डन किया। यह बात नहीं

है कि वैदिक-साहित्य की शास्त्र-संपत्ति निरर्थक है, किन्तु उसकी उपयोगिता किसी

युग-विशेष में ग्राह्य नहीं हो सकी और कबीर ने जीवन का एक दूसरा पार्श्व उपस्थित किया। इस विरोध से तो साहित्य का उपकार ही मानना चाहिये, क्योंकि हमारे समक्ष वस्तुस्थिति के दोनों पार्श्व उपस्थित हो गये। साहित्य में खण्डन-मण्डन प्रणाली में हम मानवीय विचार-धारा का विकास ही देखते हैं। जब तक व्यक्तित्व का अभिज्ञान नहीं होगा, तब तक दूसरे के विचारों के प्रति सन्देह नहीं हो सकता, जब तक सन्देह नहीं होगा, तब तक जिज्ञासा नहीं होगी। जिज्ञासा न होने पर समस्या का प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकेगा और समस्या को सुलझाने के लिए हल प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की जायगी; विचारों की इसी प्रक्रिया में साहित्य की समृद्धि पर विचार होगा। सांस्कृतिक और युगीन विचार-धारा में मत भेद होना मानव-मन के विकास का द्योतक है और साहित्य इसी मानव-मन से पोषित है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि परम्परा के प्रति जो विरोध प्रस्तुत किया जाय, वह जीवन के लिए पूर्ण स्वाभाविक और तर्क-संगत हो। यह विरोध केवल व्यक्तिगत रूप में न हो वरन् सार्वजनिक हो और उसमें जन-कल्याण की भावना ही सर्वोपरि हो।

तीसरी विचारधारा अधिकतर सांस्कृतिक दृष्टिकोण के समर्थन में ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसे युग के अनुरूप बनाने के लिए उसमें यथास्थान कुछ संशोधन कर दिया जाता है। जिस प्रकार

युग प्रभाव किसी पेड़ में कलम लगाकर उसी के रस से एक दूसरा पेड़ तैयार कर लिया जाता है, उसी प्रकार यह संशोधन, किसी विचार-शाखा की प्रशाखामात्र समझा जाना चाहिए। किसी भी विचार-धारा में संशोधन का कार्य उसके विस्तार के लिए किया जाता है और इससे उस विचार की परिधि में ऐसी भाव-कोटियाँ भी सम्मिलित कर ली जाती हैं, जिनके सम्बन्ध में किसी युग की मान्यता है। वैष्णव धर्म के विकास में रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य ने वेदान्त में जो संशोधन उपस्थित किये, उससे वैष्णव धर्म की परिधि अधिक विस्तृत और व्यापक हो सकी। तुलसी से पहले कबीर ने जो 'निर्गुण-सम्प्रदाय' की प्रतिष्ठा की थी, वह प्रतिष्ठा 'सगुण-सम्प्रदाय' के विरुद्ध थी, किन्तु तुलसीदास ने अवतारवाद में विश्वास करते हुए 'निर्गुण-ब्रह्म' की स्थिति भी राम के ब्रह्म-रूप में कर दी। इस प्रकार तुलसीदास ने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से निर्गुण और सगुण सम्प्रदाय को राम के व्यक्तित्व में लीन कर दिया। इससे राम की उपासना-पद्धति अधिक विस्तृत हो गई। इस भाँति यह स्पष्ट है कि किसी भी विचार-धारा में जो संशोधन किया जायगा, वह उसकी व्यापकता के लिए सहायक

सिद्ध हो सकेगा। साहित्य का विस्तार विविध युगों में इन्हीं तीन प्रेरणाओं से हुआ करता है और कल्पवृक्ष की कमनीयता तथा कामनाओं के पूर्ण करने की क्षमता लेकर साहित्य युग-युग में अंकुरित होता रहता है।

इस प्रसंग में एक बात और भी विचारणीय है। कभी-कभी व्यक्ति या वर्ग-विशेष अपनी स्वार्थमयी संकीर्ण भावनाएँ लेकर साहित्य में एक अलग ही विचार-धारा प्रस्तुत करता है। इसका दृष्टिकोण सार्वजनिक विचार-धारा के खण्डन में ही हुआ करता है। यह खण्डनात्मक दृष्टिकोण इसलिए होता है कि उससे कुछ व्यक्ति या वर्ग-विशेष के अधिकारों की प्रतिष्ठा हो जाय, जो सार्वजनिक दृष्टिकोण से संभव नहीं हो सकती। अपने विचारों की प्रतिष्ठा में उस वर्ग को सार्वजनिक विचार-धारा का विरोध करना पड़ता है और एक अंग का विरोध बढ़ते-बढ़ते सर्वांग विरोध हो जाता है। कभी कभी किसी व्यक्ति की दबी हुई अस्वस्थ वासना प्रेम का परिधान पहनकर साहित्य को नवीन रूप-राशि प्रदान करना चाहती है, किन्तु यह रूप-राशि इन्द्रियों की अग्नि से उत्पन्न होनेवाली अरुणिमा है, जिस की ओर निम्न धरातल की घास में उत्पन्न हुए पतंगे लुब्ध होकर जलने के लिए चंचल हो उठते हैं। अग्नि-शिखा की भाँति, इन्द्रियों की यह उपासना, केवल स्थूल सौन्दर्य का ही प्रकाश फैलाना जानती है। उसके प्रकाश में व्यक्ति मोहाभिभूत होकर शयन कर सकता है, जाग नहीं सकता। साहित्य की यह इन्द्रिय-जनित विलास की 'अमर बेल' चिन्तन के विशाल वट-वृक्ष पर भी छा जाती है और उसके रस से पोषित होकर उसे सुखा डालना चाहती है। बाह्य-सौन्दर्य का चित्रण बुरा नहीं है। सौन्दर्य चाहे आन्तरिक हो या बाह्य, वह सभी परिस्थितियों में अभिनन्दनीय है, किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उस सौन्दर्य से जागरण हो, निद्रा नहीं। जिस सौन्दर्य में मोह-निद्रा का आह्वान है, वह सौन्दर्य स्वस्थ नहीं। अनेक ग्रंथों में सौन्दर्य ने, हमें वासना की 'लोरियाँ' सुनाकर 'सुलाने' की चेष्टा की है। ऐसा सौन्दर्य साहित्य की सबसे बड़ी निर्लज्जता है। ऐसे साहित्य के सम्बन्ध में मैंने एक स्थान पर लिखा था कि जो साहित्य हमारे हृदय में चेतना उत्पन्न करता है, वह जीवन का एक महान उत्सव है। कविता की प्रेरणा जीवन के ज्योतिष स्वप्नों के निर्माण करने में है और "जब इन सजीव-स्वप्नों से रहित होकर कविता अपना प्रदर्शन करती है, तो वह ऐसी अप्सरा हो जाती है, जिसके पास केवल रूप ही रूप है, हृदय का उष्ण स्पन्दन नहीं। उसने अपने अस्तित्व को केवल रूप में ही लीन कर दिया है। प्रभात-काल की भाँति उसके पास केवल कण्ठ का कलरव है, जो केवल दो घण्टों में समाप्त हो जाता है। रेशम के कीड़े की भाँति उसने अपने ऊपर कोमलता

का ताना-बाना गूँथ रखा है। वह उसे काटकर नहीं निकल सकती, वह उस कीड़े से भी हीन है। साहित्य के शव पर बैठकर कला का यह कापालिक किसी कपालकुण्डला को वश में नहीं रख सकता।

मानव के हृदय का साम्राज्य कितना व्यापक है ! संसार में फैले हुए किसी भी राष्ट्र से अधिक इसकी परिधि है, किन्तु इस साम्राज्य की सीमा छूने का प्रयत्न भी हमारे विज्ञान का भौतिकवाद नहीं करना चाहता। वह अपने जड़वाद में पूर्ण रूप से सन्तुष्ट है। यों उसने हमें जीवन की अनेक सुविधाएँ दी हैं, किन्तु क्या उससे हमारी आत्मा में जागृति आ सकी है ? इन्द्रियों के विषय उसके द्वारा हमें सहज ही प्राप्त हो गये हैं, किन्तु क्या वासनाओं की पूर्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है ? हमारी इच्छाओं की अंगूरी बेल को ऊपर बढ़ने का सहारा उसके द्वारा अवश्य मिला है, किन्तु इससे हमें मादकता के अतिरिक्त और क्या मिला ? हमने इसकी शक्ति से सांसारिक आनन्द के निर्जीव शव को गोद में उठा लिया है, उसके प्राण की उपेक्षा की है। मिट्टी के ढेले पर ही हम रीझ गये हैं, उसके अन्तर्गत रंगीन फूल के बीज पर नहीं। स्पर्श का चरमोत्कर्ष हमारे लिये प्रेम का प्रमाण-पत्र बन गया है। हम अपने स्वार्थ की रोटी खाकर बीमार होने की सीमा तक पहुँच गए हैं और अपनी ओषधि में भी वही रोटी चाहते हैं। यह विज्ञान हमारे समस्त सुखों का कोषाध्यक्ष होना चाहता है; जीवन की इकाई में आडम्बरों के शून्य जोड़कर वह सहस्रों का गुमान करना चाहता है। वह इतना दुष्ट है कि संसार को बिगाड़ने के लिये ही बार-बार बनाता है। उसकी अग्नि से विनाश की अग्नि जल सकती है, किन्तु वह आश्चर्य का प्रकाश बनकर हमें आकर्षक किरणों से लुभाता है। अपने रेखा-चित्रों में उसने ब्रह्म के लिये कोई चिह्न भी नहीं बनाया। केवल लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई में वह आत्मा को नापना चाहता है। वह ऐसी स्याही का धब्बा है, जिसके नीचे आत्मा की रेखा छिप गई है।

आवश्यकता इस बात की है कि हमारा बुद्धिवाद सृष्टि के कण-कण में व्याप्त स्नेह और पारस्परिक हित की भावना खोजे। वह अपनी हँसी के हाथों से जीवन का द्वार खोलना सीखे। लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि मनुष्य मनुष्यत्व को भूलकर देवता होने की चेष्टा में राक्षस बनने जा रहा है। कुर्सी पर बैठकर वह चपरासी को भूल गया है, मोटर पर चढ़कर उसे राहगीरों से घृणा ले गई है, थियेटरों में जाकर वह अन्धे गायक को भूल गया है। वह हँसता है लेकिन अपनी हँसी को नहीं समझ सकता। उसने अपनी हँसी में यह भी नहीं खोजा कि यह किसने गुदगुदाया है ! आज का मनुष्य बुद्धिवाद की कसौटी पर स्नेह के फूल को कसकर परखना चाहता

है। वह अपनी इन्द्रियों से आत्मा में चेतना लाना चाहता है। किसी ने राख से कभी दीपक जलाया है ?”

इस प्रसंग के अन्त में मैंने लिखा था—“आधुनिक कविता में विलास और निराशा की भावना विशेष रूप से है। हमारा कवि दूध पीनेवाले बच्चे की तरह इन्द्रियों की गोद में बैठकर बन्दी हो गया है। फूल अपने लिये फूलता है, काला कीट उसे चुपके-से खा डालता है। सौन्दर्य चेतना की निधि है, विलास उसका विनाश करता है। इन्द्रियों की अग्नि प्रेम को जला देती है। तृप्ति होने पर प्रेम और सौन्दर्य रह कहाँ जाता है ? प्रेम के धनुष पर बैठकर यह विलास बाण की तरह चलता है, किन्तु अंत में पतन ही उसका ध्येय है। विलास तभी स्थायी होता है जब उसमें एक व्यंजना होती है—सूर और उमरखैयाम की कविता में जो विलास है, वह चिरन्तन है। इसी भाँति अध्यात्म के क्षेत्र में निराशा का मूल्य बहुत अधिक है। कबीर ने अपने पदों में आत्मा को तो ‘विरहिन’ माना है लेकिन भौतिक क्षेत्र में निराशा श्लाघ्य नहीं है। मैं रहस्यवाद की निराशा का पोषक हूँ, भौतिकवाद की निराशा का नहीं। विनाश और मृत्यु में मनुष्य का विकास और जीवन है। मृत्यु की सुई अपने पीछे जीवन का धागा लिये है। जिस प्रकार एक वृत्त की परिधि में बैठा हुआ अन्तिम बिन्दु फिर प्रथम बिन्दु हो जाता है उसी प्रकार विनाश में ही विकास का जन्म होने लगता है। आदि को लौटना ही अन्त का दूसरा नाम है। अतः विकास और विनाश में विरोध नहीं है। वे जीवन के चिर-प्रवास के विश्राम हैं।”

